UNIVERSAL LIBRARY
OU_182191
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H82 Y29N Accession No. P. G. H993

Author यश और देवदत्त 'अटल'

Title नये एकांकी

This book should be returned on or before the date last marked below.

नये एकांकी

सम्पादक

'यश'

देवदत्त 'अटल'

प्रकाशक—

एम० गुलाबसिंह एण्ड सन्स

एजुकेशनल पब्लिशर्स

दिल्ली

मूल्य २॥)

मुद्रक—
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, क्विंस रोड, दिल्ली।

विषय-सूची

१. श्री विक्रमादित्य	डा० रामकुमार वर्मा	१
२. धूम-शिखा	श्री उदयशंकर भट्ट	३५
३. कृषि-यज्ञ	श्री सेठ गोविन्ददास	५७
४. जोंक	श्री उपेन्द्रनाथ "अश्क"	७९
५. भाई	श्री विष्णु प्रभाकर	१०५
६. कविप्रिया	श्री 'अज्ञेय'	१२७
७. मुक्ति	श्री पृथ्वीनाथ शर्मा	१४३
८. राम-राजो	श्री हरदयालसिंह "मौजी"	१५९
९. पराधीनता की ओर	श्री 'यश'	१६९
१०. युग का ईमा	श्री देवदत्त 'अटल'	१८९

एकांकी और उसकी पृष्ठभूमि

आधुनिक साहित्य में ही नहीं साधारण पाठकों में भी एकांकी-नाटकों का संमान उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। जीवन की दौड़ में निरन्तर व्यस्त रहने वाले आधुनिक मानव-समाज के लिए समय का मूल्य ही बहुत बढ़ गया है अतः बड़े-बड़े नाटकों, उपन्यासों और महाकाव्यों को पूर्णतयः पढ़ने-सुनने अथवा देखने के लिए अवकाश ही नहीं। इसलिए आधुनिक मानव गीतों, छोटी कहानियों और एकांकी-नाटकों से ही अपनी साहित्यिक तृष्णा शान्त कर लेता है।

'आवश्यकता आविष्कारों की जननी है' इस कहावत के अनुसार कहा जा सकता है कि जब तक मानव-समाज का अधिकांश समय जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधन उपलब्ध करने में व्यय होता रहेगा, तब तक एकांकी-नाटकों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहेगी।

भारत विविध कलाओं का आचार्य एवं आविष्कारक है। नाट्य-कला की सृष्टि का श्रेय भी इसी को है। विश्व साहित्य के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में यम-यमी के संवाद नाट्य-कला के मूल बीज हैं। इतना ही नहीं, यह भी निःसंकोच कहा जा सकता है कि आधुनिक एकांकी नाटकों का बीज रूप हमारे संस्कृत नाटकों के भेद, उपभेद—अंक, वीथी, भाण और प्रहसनादि में विद्यमान है।

भारत में प्राचीनकाल से रंगमंच पर रास, स्वांगों की प्रथा का प्रचलन है। इन रास लीलाओं में कृष्ण चरित्र की कोई एक झांकी दिखाई जाती थी। कभी दान लीला, कभी मान लीला

और कभी माखन चोर लीला। यह कृष्ण लीलाएं एकांकी की ही झांकियां हैं जिनमें नृत्त और संगीत की प्रधानता रहती थी।

संस्कृत नाट्य-साहित्य की प्रगति की जो अविरल धारा चल रही थी, मुगल शासन काल में वह लुप्त-सी हो गई। उन दिनों इन रास लीला, भगत स्वांग और कृष्णलीला पर ही संतोष करना पड़ता था।

मां भारती का दुर्भाग्य है कि 'भारतेन्दु' तक एक परिष्कृत गद्य का आरम्भ ही नहीं हुआ था फिर भी बाबू हरिश्चन्द्र 'भारतेन्दु' का 'विषस्य विषमौषधम्' नामक भाण संस्कृत प्रणाली का एकांकी ही है।

नाट्य-कला का पतझड़ मुगलों का शासनकाल था। मुगल सम्राटों की कला के प्रति उपेक्षा और औरंगजेब की हठधर्मी के अतिरिक्त साम्प्रदायिक मतों की प्रधानता, जिनमें नैतिकता का पालन ललित-कलाओं को त्यागने पर निर्भर था, एक शक्ति-शाली गद्य का अभाव और नटों के प्रति घृणा, यह हिन्दी नाटकों में बाधक शक्तियां थीं। ऐसी विषम परिस्थितियों में हिन्दी एकांकी-नाटकों का विकास और उन्नति कठिन नहीं असंभव थी।

स्वर्गीय 'प्रसाद' का 'एक घूंट' एकांकी नाटक की उन्नति का एक नवीन अध्याय था। इसके उत्तर काल में बंगला जौर अंग्रेजी का प्रभाव लेकर हिन्दी में एकांकी-नाटकों की रचना आरंभ हुई। इनके बाद सर्व श्री रामकुमार वर्मा, जैनेन्द्रकुमार, उग्र, सुदर्शन, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और पं० गोविन्द वल्लभ पंत का नाम आता है।

पूंजीवाद के अविर्भाव ने आधुनिक मानव का जीवन ही संघर्षमय बना दिया। वह मशीन की कल की भांति जीवन-संघर्ष में व्यस्त हो गया, उसके निकट समय का मूल्य इतना

बढ़ गया कि उसे बड़े-बड़े महाकाव्यों, उपन्यासों और नाटकों को पढ़ने का अवकाश ही नहीं मिलता। वह थोड़े समय में अपनी मानसिक और शारीरिक थकान को मिटाने के लिए मनोरंजन का अत्यन्त स्वल्प साधन चाहता है।

आधुनिक एकांकीकार इस अभाव की पूर्ति बने।

युग की इस तीसरी अवस्था में 'हंस के एकांकी अंक' का प्रकाशन हुआ। जिसमें एकांकी संबंधी एक विवाद-सा खड़ा हुआ। इस काल की प्रेरणा हैं सर्व श्री उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्र-नाथ 'अश्क', सेठ गोविन्ददास, भुवनेश्वर प्रसाद तथा गणेश प्रसाद द्विवेदी।

हिन्दी एकांकी-नाटकों के विकास की प्रथमावस्था में एकांकी लिखने का प्रण नहीं किया गया था वे नाटक लिखने बैठे, उसकी कथा छोटी हुई तो वह एकांकी बन गया। दूसरी अवस्था में एकांकी लिखने की चेतनता जागृत हुई और तीसरी अवस्था में मानव-मन का सूक्ष्माति-सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाने लगा और चौथी अवस्था में प्रगतिशील एकांकीकार समाजवाद की विचार-धारा से प्रेरित होकर सर्वहारा मजदूरों, किसानों के शोषण, प्रपीड़न को ओजस्वी भाषा में अभिव्यक्त करने लगे हैं। आज एकांकी-नाटकों की चौथी अवस्था चल रही है।

एकांकी-नाटक की परिभाषा

एकांकी नाटक को परिभाषा की डिबिया में बन्द कर देना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है फिर भी एकांकी नाटक एक ऐसी कला है जिसमें घटना का विस्तार और पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिये कोई अवसर नहीं होता। उसकी पार्श्वभूमि भी सीमित होती है। उसके पात्रों की झांकी मात्रा ही दर्शक देख सकते हैं। इसलिये एकांकी, सागर की एक तरंग की भांति,

शशि की एक कला की भांति, बनस्थली में एक कलिका की भांति और जीवन में एक सांस की भांति है।

आधुनिक एकांकी-नाटकों के आचार्य श्री रामकुमार वर्मा ने एकांकी-नाटक की परिभाषा निम्न शब्दों में की है :—

"एकांकी नाटक में अन्य प्रकार के नाटकों से यह विशेषता होती है कि उसमें एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से ही कौतूहल का संचय करते हुए चरम-सीमा तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता—विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भांति खिल कर पुष्प की भांति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृंखलता नहीं······।"

इस सम्बन्ध में ध्यान देने वाली बात यह है कि एकांकी-नाटक की समाप्ति एक ही बैठक में हो जानी चाहिये। उसका विषय भी एक होता है। वह तत्काल आरम्भ हो जाता है और क्योंकि शीघ्र ही बिन्दू तक उसे पहुँचना होता है, इसलिये अन्त भी उसी प्रकार आकस्मिक होता है। एकांकी की रफ्तार बिजली की रफ्तार है अतः उसमें त्रि-सामंजस्य (स्थल सामंजस्य, काल सामंजस्य और कार्य सामंजस्य) का निर्वाह अनिवार्य गुण है।

नाटक और एकांकी

एकांकी नाटक के विपरीत पूर्ण नाटक में मानव-जीवन की व्यापक विवेचना होती है उसमें अनेक रसों, प्रभावों, घटनाओं, अनुभूतियों और चरित्रों का समावेश होता है पर एकांकी एक-अंक वाला नाटक है इसमें मानव जीवन के एक अंग, एक ही समस्या और एक चरित्र का चित्रण होता है। नाटक चार, पांच घण्टों में खेला जाता है पर यह एक बैठक—डेढ़ दो घण्टे में ही समाप्त हो जाना चाहिये।

एकांकी नाटक और कहानी

एकांकी नाटक और कहानी में पारिभाषिक साम्य-सा प्रतीत होता है किन्तु साम्य उतना ही व्यापक अन्तर भी रखता है।

एकांकी रचना रंग-मंच के नियमों के अनुकूल होती है लेखक अपनी ओर से कुछ भी कहने का अधिकार नहीं रखता, इसे जो कुछ कहना होता है वह पात्रों द्वारा ही अपने भावों की अभि-व्यक्ति करता है अतः कहानी का रंगमंच कहानी में ही होता है और लेखक को पूर्ण अधिकार होता है कि वह अपनी बात भी कह सके। एकांकी-नाटय दृश्य-काव्य की अंगूठी का हीरा है तो कहानी स्वच्छन्द विहारिणी शशिकला का शुभ्र हास।

एकांकी नाट्य-कला के तत्व वहीं हैं जो पूर्ण नाटक के होते हैं। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, संभाषण और रंग संकेतादि का यहां विवेचन करना अनावश्यक है यह समस्त सामग्री अध्ययनशील विद्यार्थियों और अध्यापकों को नाट्य-शास्त्र के समीक्षा ग्रन्थों में पर्याप्त मिल सकती है।

अन्त में हम इतना कहना चाहते हैं कि विशाल विश्व एक नाटक है और धरित्री है उसका रंगमंच। जो कुछ दुनिया में होता है, जीवन की उन घटनाओं का विवेचन ही नाटक की कथा-वस्तु है। उस सत्य को कल्पना के घाट उतार कर संसार के समक्ष उपनीत करना ही कलाकार का कौशल है। सुख दुःख की एक भावावेशमयी अवस्था का गिने-चुने शब्दों में नियमा-नुकूल चित्रण करना ही एकांकी नाटक का ध्येय है।

यह एकांकी स्वाधीन भारत का निर्माण करने में परम सहायक हो सकते हैं यदि हमारे कालिजों, स्कूलों, क्लबों की स्टेजों पर इनका अभिनय किया जाये और राष्ट्र में नैतिकता, जीवन और शक्ति का संचार करने वाले एकांकी नाटकों की

रचना की जाये। तभी भारत उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो सकता है।

इस संग्रह में जिन कलाकारों की सुन्दर कृतिया संगृहीत है उन के हम हृदय से आभारी हैं।

विनीत:—
यश
देवदत्त 'अटल'

डा० रामकुमार वर्मा

श्री रामकुमार वर्मा हिन्दी जगत के छायावादी भावुक कवि, विचारक और गंभीर समालोचक हैं। यह आधुनिक हिन्दी एकांकी-कला के आचार्य हैं। इन्होंने अपनी कवित्वमयी सरस भाषा से पात्रों के आन्तरिक जगत का अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। यह मानव-मन के कोमल और कठोर दोनों पक्षों का कलात्मक सूक्ष्म विवेचन करने में सिद्धहस्त हैं। पात्रों के जीवन में चारित्रिक द्वन्द्व—अन्तर्द्वन्द्व और व्यापक संघर्षों को सामने लाना ही इनकी कला की प्रधान विशेषता है। इनके विचारों और चरित्र की उद्भावना में अनूठी मौलिकता रहती है। यह एकांकी की कथावस्तु में कौतूहल को जगाते हैं, उभारते हैं और उसे उत्कर्ष तक ले जाते हैं। वर्मा जी के एकांकी-संग्रह निम्नलिखित हैं।

पृथ्वीराज की आंखें, रेशमी टाई, चारु मित्रा, सप्त किरण

इनके प्रायः सभी एकांकी नाटक रंगमंच की शोभा बने हैं।

श्री रामकुमार वर्मा के प्रस्तुत एकांकी 'विक्रमादित्य' में विक्रमादित्य की न्याय-प्रियता और आर्य नारी का उपकार के प्रति उपकार के के लिए अपने प्राणों तक को उत्सर्ग करने में भी न हिचकिचाने की महान भावना अभिव्यक्त की गई है जिसके फलस्वरूप भूमक शक होकर भी शाकाहारी बन जाता है।

एकांकी में आर्य संस्कृति की श्रेष्ठता का सुन्दर चित्र है।

पात्र

श्री विक्रमादित्य—शकारि अवन्तिनाथ

विभावरी (भूमक)—छद्मवेषी शक कुमार

पुष्पिका—उज्जयिनी-निवासिनी

उद्यानरक्षिका, प्रहरी, वधिक

स्थान—उज्जयिनी   काल—सन् ५७ ई० पू०

श्री विक्रमादित्य

[श्रीविक्रमादित्य (आयु २६ वर्ष) की न्याय-सभा का बाहरी कक्ष। एक सिंहासन है जिसके दोनों ओर सिंह की दो विशाल प्रतिमाएँ हैं। सिंहासन के पीछे एक मेहराब है जिसके मध्य में सूर्य-मण्डल है। शिल्पकला से सजाए गए पत्थरों पर बेल-बूटेदार आकृतियां हैं जिनमें कमल और उसके चारों ओर मृणाल की जाली है। फर्श भी रंगीन पत्थरों का है और उसमें सरोवर की लहरों का आभास है। मेहराब से हटकर एक वातायन है जिससे कुछ दूर पर शिप्रा का प्रवाह दीख रहा है। कमरे में सुगन्धित द्रव्य का धूम है और चारों ओर रंगीन प्रकाश की शलाकाएं हैं। द्वार के समीप काठ का एक त्रिभुज है जिसमें एक घण्टा लटक रहा है।

सिंहासन पर श्री विक्रमादित्य आसीन हैं। देवतुल्य शरीर, घुटने तक लम्बी बांहें, प्रशस्त ललाट, चौड़ा और ऊँचा वक्षस्थल, कटि-प्रदेश पुष्ट जैसे 'विश्वकर्मा ने अपने चक्र-यंत्र पर चढ़ाकर उनको आकृति और शोभा को और भी चमका दिया है।' उनकी कमर में अपराजित खड्ग कसा हुआ है जो 'उनके पुरुषार्थ रूपी सागर की उच्छल तरंग' है। वे राजसी वस्त्र पहने हुए हैं। सिर पर रत्न-जटित मुकुट है।

मंच की सीढ़ियों पर दाहिनी ओर एक युवती विभावरी (आयु २२ वर्ष) खड़ी है। मोतियों से परिपूर्ण सीमन्त और वेणी में बन्धूक-पुष्प। कन्धों पर हरा उत्तरीय और कमर में पीले रेशम का कटिबन्ध। हृदय में मोतियों की माला और पुष्पहार। उसका शेष शृङ्गार फूलों का ही है।

कक्ष में इस समय केवल ये दोनों ही हैं। गंभीर घोष से श्री विक्रमादित्य मौन भंग करते हैं।]

विक्रमादित्य—आश्चर्य है, उज्जयिनी में तुम्हारा अपमान हुआ।

विभावरी—सम्राट, उस अपमान की यंत्रणा से आज दिन भर रुदन करने के कारण मेरे कण्ठ की विकृति हो गई है!

विक्रमादित्य—आर्य-नारियां रुदन नहीं करतीं। तुम्हारा नाम क्या है देवी?

विभावरी—विभावरी, सम्राट।

विक्रमादित्य—विभावरी! कहां की निवासिनी हो?

विभावरी—विदिशा में मेरा निवास है, सम्राट्!

विक्रमादित्य—उज्जयिनी में कब से निवास कर रही हो?

विभावरी—शरद्-पूर्णिमा के पर्व से। एक मास से कुछ ही अधिक समय हुआ।

विक्रमादित्य—यहाँ तुम आई किसलिए थीं?

विभावरी—पुण्यतीर्था उज्जयिनी में क्षिप्रा-स्नान के लिए।

विक्रमादित्य—कितने दिनों से क्षिप्रा-स्नान कर रही हो?

विभावरी—पिछले तीन वर्षों से, सम्राट्!

विक्रमादित्य—प्रत्येक वर्ष तुम यहाँ एक मास से अधिक ठहरती हो?

विभावरी—नहीं सम्राट्, जबसे आपका शासन हुआ है तब से यहाँ अधिक ठहरने लगी हूँ।

विक्रमादित्य—क्यों?

विभावरी—सम्राट, आपके शासन में उज्जयिनी की पवित्रता नक्षत्रों की पवित्रता के समान है। यहाँ चारणों के भैरव राग में पुष्पों ने अपनी पंखुड़ियाँ खोलना सीखा है। जो नगरी अपने वैभव के स्तूपों में अपने हाथ फैलाकर आपके चरणों की वन्दना कर रही है, वह नगरी मेरे लिए इतना आकर्षण क्यों न रखे, सम्राट्?

विक्रमादित्य—इसे मैं कैसे सत्य समझूं जब विभावरी जैसी आर्य-नारी अभियोगिनी के रूप में मेरे सामने उपस्थित है।

विभावरी—यह मेरा भाग्य-दोष है; सम्राट्! सूर्य का आलोक कण-कण को प्रकाशित करता है किन्तु पहाड़ की कन्दरा में अन्धकार ही रहता है यह सूर्य का दोष नहीं है प्रभो; यह कंदरा का दोप है जो पत्थरों को तोड़कर उसमें छिपकर बैठ गई है।

विक्रमादित्य—यदि तुम ऐसा समझती हो देवी, तो अभियोगिनी बनकर मेरे सामने क्यों खड़ी हो? यदि यह स्वयं तुम्हारा दोष है तो तुमने राज-मर्यादा की शान्ति में बाधा क्यों डाली? उस दोप के दण्ड सहन करने की शक्ति तुममें होनी चाहिए।

विभावरी—सम्राट्, यदि मैं दण्ड सहन कर लूंगी तो इस दण्ड का द्वार भविष्य में अन्य स्त्रियों के लिए भी खुल जायगा। आज मैं अपमानित हुई हूँ, यदि उसकी सूचना मैं आपके बाहु-बल को न दूं तो कल दूसरी स्त्री भी अपमानित हो सकती है।

विक्रमादित्य—तुमसे पहले तो कोई स्त्री मेरे राज्य में अपमानित नहीं हुई।

विभावरी—यह आपके राज्य-शासन का गौरव है, सम्राट्!

विक्रमादित्य—[दृढ़ता से] चुप रहो विभावरी, मैं ऐसे छद्मवेशी शब्द नहीं सुनना चाहता। ये मेरी यंत्रणा को अधिक तीव्र करते हैं। मैं जानना चाहता हूँ, तुम्हारा अभियोग क्या है?

विभावरी—सम्राट्, लज्जा मेरे शब्दों को रोक रही है।

विक्रमादित्य—मुझे आश्चर्य हो रहा है, तुम आर्य-नारी किस प्रकार हो? तुमने इस अपमान पर आज दिन भर रुदन किया, जो आर्य-नारी की मर्यादा के प्रतिकूल है। फिर उस अपमान

के कहने में तुम्हें लज्जा हो रही है। आर्य नारियाँ अपना अपमान ज्वालामय शब्दों में कहती हैं, लज्जा के स्वरों में नहीं।

विभावरी—मैं बहुत दुखी हूँ, सम्राट्।

विक्रमादित्य—तब तो तुम्हें और भी निर्भीक होना चाहिए। भारत की दुखिनी नारी क्रान्ति की ज्वाला है, उसे कोई रोक नहीं सकता। वह उठती है तो सुगंधिमय धूम की भाँति, और आकाश तक उसकी उदारता फैल जाती है; वह गिरती है तो बिजली की भाँति, और उससे पाताल का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है।

विभावरी—सत्य है, सम्राट!

विक्रमादित्य—फिर तुमने यह याचना की थी कि तुम्हारा अभियोग न्याय-सभा के बाहरी कक्ष में—एकान्त में—सुना जावे। यह याचना भी तुम्हारी स्वीकार हुई। मैंने अपनी सभा के सदस्यों और मंत्रियों को यहाँ से हटा दिया। इस समय हम लोग एकांत में हैं। तुम निर्भीक होकर अपना अभियोग मुझे सुना सकती हो।

विभावरी—[हाथ जोड़कर] मैं सम्राट् की कृतज्ञ हूँ।

विक्रमादित्य—कृतज्ञ होने की बात नहीं है। सम्राट् प्रजा का पिता है। यदि आवश्यकता होगी तो मैं इसी स्थल पर तुम्हारे अभियुक्त को दण्ड भी दे सकूंगा।

विभावरी—यह आपकी कृपा है, प्रभो!

विक्रमादित्य—अपना अभियोग स्पष्ट करो। किसमें इतनी शक्ति है जो उज्जयिनी में नारी का अपमान करे?

विभावरी—सम्राट्, आज प्रातः काल उषा-बेला में मैं इसी क्षिप्रा [वातायन की ओर संकेत] के किनारे वायु-विहार के लिए गई थी। वहाँ पुष्पराग उद्यान की सुगन्धि ने मुझे आकर्षित

किया और मैंने उसमें प्रवेश किया। शीतल समीरण बह रहा था, अनेक भाँति के पुष्प खिले हुए थे......।

विक्रमादित्य—[बीच ही में] मैं इस समय काव्य नहीं सुनना चाहता, मैं अभियोग सुनना चाहता हूँ।

विभावरी—क्षमा चाहती हूँ सम्राट्, मैं संक्षेप ही में कहूँगी। पुष्पराग उद्यान में पुष्पों की विविधता देखकर मेरे मन में इच्छा हुई कि मैं सूर्य भगवान् की पूजा के निमित्त कुछ पुष्प चयन करलूं। जिस समय मैं पुष्प चयन कर रही थी उसी समय एक दूसरी स्त्री मेरे समीप आई। उसने प्रेम से मेरी ओर देखकर निवेदन किया--"क्या मैं आपकी सहायता कर सकती हूँ?" उसका प्रेम भाव देखकर मैंने उसकी सहायता स्वीकार कर ली। पुष्प-चयन के उपरान्त उसने मेरी वेणी में पुष्प गूंथने की इच्छा प्रकट की। सम्राट्, सौन्दर्य-प्रिय होने के कारण मैंने यह भी स्वीकार किया। जिस समय मेरी वेणी में वह पुष्प गूंथ रही थी, उस समय मेरे कण्ठ में उसका स्पर्श अस्वाभाविक ज्ञात हुआ!

विक्रमादित्य—[चौंक कर] अस्वभाविक? [सिंहासन से उतर पड़ते हैं।]

विभावरी—सम्राट्, उसके स्पर्श से मुझे पुरुष-स्पर्श का संकेत मिला।

विक्रमादित्य—[स्तंभित होकर] पुरुष-स्पर्श? तो क्या वह नारी-वेश में पुरुष था?

विभावरी—मैं यही सोचती हूँ, सम्राट्!

विक्रमादित्य—तुमने उसी समय अपने अपमान का प्रतिकार किया?

विभावरी—सम्राट्, मुझे भय था मैं कहीं अधिक अपमानित न हो जाऊँ !

विक्रमादित्य—तुम्हारे पास कोई शस्त्र था ?

विभावरी— हाँ सम्राट्, मेरे पास शस्त्र था। वह अब भी है। देखिए, यह दन्तिका। [कटिबन्ध से दन्तिका निकालकर दिखलाती है।]

विक्रमादित्य—तुमने इसका प्रयोग किया ?

विभावरी–सम्राट्, मुझे आपके न्यायमें अधिक विश्वास है !

विक्रमादित्य—विभावरी, तुम आर्य-नारी हो। तुमने अपने कुल को कलंकित किया है। साथ ही मुझे भी, अपने सम्राट को। तुम इस प्रकार अपमानित हो जाओ और शक-स्त्रियों की भाँति रोने लगो ? तुम्हें अपनी असमर्थता पर लज्जा नहीं आई ? तुम्हारी माता को आत्महत्या करनी चाहिए। तुम्हारे पिता को देश से भाग जाना चाहिए। शक्तिहीना नारी ! भारत के भविष्य की संरक्षिका को अपमान का प्रतिकार करना भी न आया ? [अशान्ति से शीघ्र गति में टहलने लगते हैं।]

विभावरी—सम्राट्, मुझे क्षमा कीजिए। विदिशा में रहनेवाली नारी को अभी उज्जयनी की नारी से बहुत कुछ सीखना है। आपके व्यक्तित्व के प्रभाव से तो उज्जयिनी की नारी दुर्गा और सरस्वती दोनों ही का रूप धारण कर सकती है।

विक्रमादित्य—[घृणा से] अयोग्य नारी ! इस तिल की ओट में तुम पर्वत को नहीं छिपा सकतीं। यह कारण तुम्हारी असमर्थता की रक्षा नहीं करेगा।

विभावरी—[हाथ जोड़कर] सम्राट्, मैं भी दण्ड की पात्री हूँ।

विक्रमादित्य—निस्सन्देह, नारी-अपमान के लिए मैं अभियुक्त को निर्वासित तो करूँगा ही, साथ ही साथ तुम्हें भी साधना की अग्नि में तपकर सच्ची नारी बनना होगा।

विभावरी—मैं दण्ड सहन करने के लिए प्रस्तुत हूँ, प्रभो!

विक्रमादित्य—और तुम्हारा अभियुक्त कहाँ है?

विभावरी—मैं उसे पुष्पराग उद्यान की द्वार-रक्षिका से बन्दी कराकर ले आई हूँ। वह इस समय द्वार-रक्षिका के साथ बाहर है।

विक्रमादित्य—[अशान्त होकर] उज्जयिनी में कभी ऐसा अभियोग मेरे सामने उपस्थित नहीं हुआ। विभावरी, तुमने आज मुझे यह सोचने के लिए बाध्य किया है कि इतने युद्ध करने के उपरान्त, इतने शत्रुओं को मालवा, सौराष्ट्र और गुर्जर से निर्वासित करने के उपरान्त भी मैं उज्जयिनी की सामाजिक व्यवस्था ठीक करने में असमर्थ रहा। आज भी उज्जयिनी में नारी अपमानित हो सकती है!

विभावरी—हाँ, सम्राट्!

विक्रमादित्य—[तीव्र स्वर में] विभावरी!

विभावरी—[विह्वल होकर] सम्राट्, क्षमा हो। जिस नगरी की वाणी ने ही क्षिप्रा का रूप धारण कर लिया हो वहाँ मेरी वाणी में यदि कुछ भूल हो तो क्षमा कीजिए, किन्तु अपनी आत्मा का चीत्कार मैं किन शब्दों में व्यक्त करूँ, प्रभो? मैं लाञ्छित हुई हूँ, मेरे आत्म-सम्मान की अवहेलना.........

विक्रमादित्य—[रोककर] बस, अब मैं अधिक नहीं सुन सकूँगा। तुम्हारे अभियोग ने मेरे पराक्रम की सहस्र भुजाओं को शक्तिहीन सिद्ध कर दिया है। मैं अब तक अपनी शक्ति का विश्वासी था। आज वह विश्वास तुम्हारे अभियोग में समाप्त

हो रहा है। मेरे राज्य में नारी का अपमान हो, यह मेरे लिए अपमान की बात है !

विभावरी—आप सम्राट्-श्रेष्ठ हैं, प्रभो !

विक्रमादित्य—चुप रहो, विभावरी, इन शब्दों से तुम मुझे पीड़ा पहुँचा रही हो। मैंने विक्रमादित्य का विरुद धारण किया था। क्या मेरे इस साहस की भावना पर तुम्हारा अभियोग हँस नहीं रहा है ? मैं उस विरुद का परित्याग करूँगा। तुमने विक्रम की ऐसी पताका भी कहीं देखी है जो अन्याय और अव्यवस्था के दण्ड में सजी हो ? तुम ऐसे सूर्य की कल्पना कर सकती हो जिसकी किरणों से अन्धकार निकलता हो ? विक्रमादित्य अन्याय और अव्यवस्था का प्रतीक हो, यह असंभव है, यह असंभव है !

विभावरी—सम्राट् शान्त हों !

विक्रमादित्य—अयोग्य व्यक्ति कभी शान्त नहीं हो सकता। मैं अयोग्य हूँ। कालिदास ने व्यर्थ ही मेरी प्रशंसा की है। मुझे पहिचानने में महाकवि ने भी भूल की।

विभावरी—नहीं प्रभो, मैंने आपको कष्ट पहुँचाने में भूल की है।

विक्रमादित्य—नहीं, मैं विक्रमादित्य नाम का परित्याग करूँगा। मेरे लिये केवल यही मार्ग है, केवल यही। किन्तु इसके पूर्व मैं नारी के सम्मान की पूर्ण व्यवस्था कर जाऊँगा। हाँ, तुम्हारा अपराधी बाहर है ? मैं उस नर-पिशाच को देखना चाहता हूँ जो अपने छद्मवेष में नारियों का अपमान करता फिरता है। जो पुरुष होकर अपने पुरुषत्व को नारी के वस्त्रों में छिपाए हुए है। जिसने विक्रमादित्य की सत्ता को विलासियों की शृंगार-शाला समझ रखा है। [द्वार के समीप पहुँचकर घण्टे पर

चोट करते हैं, फिर लौटकर विभावरी से] तुम्हें मेरे न्याय में अधिक विश्वास है ! मैं आज एकाकी न्याय करूँगा। न्याय-सभा का सारा अधिकार मैं अपने बाहु-बल में केन्द्रित कर अपराधी को कठोर दण्ड दूंगा। [प्रहरी का प्रवेश; वह अपना भाला झुकाकर प्रणाम करता है।]

विक्रमादित्य—प्रहरी, बाहर जो बन्दिनी द्वार-रक्षिका के अधिकार में है उसे यहाँ उपस्थित होने की आज्ञा सुनाओ।

प्रहरी—जो आज्ञा। [प्रणाम कर प्रस्थान।]

विक्रमादित्य—[विभावरी से] तुम मेरा न्याय देखना चाहती हो ? किन्तु सुनो विभावरी, मैं ऐसी नारी से घृणा करता हूँ जो अपना सम्मान स्वयं सुरक्षित नहीं रख सकती। नदी पहाड़ से कहे कि तुम मेरे लिए किनारा बना दो, बिजली बादल से कहे कि मुझे तड़पना सिखला दो और नारी राजा से कहे कि मेरा न्याय कर दो। नारी, भारतवर्ष को संसार में लज्जित होने से बचाओ, विदेशियों से पददलित होने पर भी देश की मर्यादा सुरक्षित रहने दो।

[द्वार-रक्षिका का अभियुक्त (आयु २४ वर्ष) के साथ प्रवेश। द्वार-रक्षिका श्वेत वस्त्र धारण किए हुए है। काले रेशम का कटिबन्ध। कबरी में पुष्प-शृंगार और हाथ में शूल। अभियुक्त पाटल रंग का उत्तरीय और नीले रंग का कटिबन्ध पहने है। गले में स्वर्ण-माला। केशों में कुन्द-पुष्प। माथे में स्वस्तिक-तिलक। हाथों में पुष्प-वलय और पैरों में नूपुर धारण किए हुए है। दोनों का अभिवादन। द्वार-रक्षिका अभियुक्त को सामने उपस्थित कर द्वार पर जाकर खड़ी हो जाती है।

विक्रमादित्य—[द्वार-रक्षिका से] तुम बाहर मेरी आज्ञा की प्रतीक्षा करो।

द्वार-रक्षिका—[सिर झुकाकर] जो आज्ञा। [प्रस्थान]

विक्रमादित्य—[अभियुक्त को गहरी दृष्टि से देखकर विभावरी से]

यहाँ तुम्हारा अभियुक्त है ?

विभावरी—[उद्वेग से] सम्राट्, यही अभियुक्त है। इसी ने मेरा अपमान किया है, यही वह दुष्ट है, यही वह छद्मवेशी है जिसने......

विक्रमादित्य [हाथ बढ़ाकर] रुको विभावरी, तुम मेरे न्याय-कक्ष में हो। [अभियुक्त से] अभियुक्त, तुम विक्रमादित्य की परीक्षा लेना चाहते हो कि वह अपनी व्यवस्था में सतर्क है या नहीं, छद्मवेशी अभियुक्त, तुम नारि वेश में पुरुषत्व का अपमान और नारीत्व की अवहेलना करने वाले कौन हो ?

अभियुक्त—[हिचकते हुए] सम्राट् !

विक्रमादित्य—[तीव्रता से] तुम्हारा नाम क्या है ?

अभियुक्त—[रुकते हुए शब्दों मे] सम्राट, मैं......मैं...... पुरुष हूँ।

विक्रमादित्य—मैं जानता हूँ कि तुम पुरुष हो, पुरुषत्व को लज्जित करने वाले पुरुष ! तुम्हारा नाम क्या है ? विक्रमादित्य के सामने तुम असत्य-भाषण नहीं कर सकोगे। मेरे अधिकार में अग्नि है, [तलवार पर हाथ रखकर] 'अपराजित' की तीक्ष्ण धार है और वधिक का तीक्ष्ण कृपाण ! सत्य और धर्म के सोपान पर सुसज्जित पवित्र न्याय के सामने अपने नाम के अक्षर दुहराओ !

अभियुक्त—[विह्वल होकर] सम्राट्......सम्राट्......मुझे क्षमा करें......मैं......स्त्री......हूँ !

विक्रमादित्य—तुम स्त्री हो ? यह तो सभी देखने वाले जान सकते हैं, किन्तु मैं तुम्हारे पुरुषत्व की परिभाषा जानना चाहता हूँ।

अभियुक्त—सम्राट्, मैं स्त्री हूँ। मेरा नाम पुष्पिका है।

विभावरी—[तीव्रता से] यह झूठ बोलता है, इसका यह नाम नहीं है।

विक्रमादित्य—[मुस्कराकर] नाम तो बहुत सुन्दर है, किन्तु तुम्हारा वास्तविक नाम क्या है। तुम विक्रमादित्य के न्याय के सामने हो, असत्य भाषण नहीं करोगे !

अभियुक्त—सम्राट, मैं क्या कहूँ मेरी समझ में नहीं आता.. हाँ, मैं पुरुष हूँ !

विक्रमादित्य—दण्ड के भय से उद्भ्रान्त मत बनो अभियुक्त ! भगवान् महाकालेश्वर की आन पर तुम असत्य भाषण नहीं करोगे।

अभियुक्त—सम्राट् के सामने यह साहस किसी का नहीं हो सकता।

विक्रमादित्य—अभियोग कहता है कि तुम पुरुष हो। तुमने विभावरी का अपमान किया है। क्या यह सत्य है ?

अभियुक्त—हाँ सम्राट, यह सत्य है। [रुककर] नहीं-नहीं, यह सत्य नहीं है।

विक्रमादित्य—[तीक्ष्णता से] स्थिर रहो अभियुक्त, तुम कहाँ के निवासी हो ?

अभियुक्त—सम्राट्, मैं उज्जयिनी में निवास करती हूँ।

विक्रमादित्य—[दृढ़ता से] तो तुम स्त्री हो ? अभियुक्त, असत्य भाषण करने पर कठोर दण्ड मिलेगा। अपनी वास्तविकता स्वीकार करो।

अभियुक्त—सम्राट्, मेरा नाम पुष्पिका है। मैं उज्जयिनी की निवासिनी हूँ।

विक्रमादित्य—इसका प्रमाण ?

अभियुक्त—मैं सम्राट् के राज्यारोहण के समय उपस्थित थी। उस समय सम्राट् ने उज्जयिनी की प्रत्येक नारी को जो स्वर्ण-मुद्राएँ दी थीं, वे मेरे कण्ठहार में अब तक सुसज्जित हैं। देखिए, [अपना कण्ठहार दिखलाती है।]

विक्रमादित्य—किन्तु वे मुद्राएँ तुम्हारे द्वारा चुराई भी तो जा सकती हैं !

अभियुक्त—सम्राट्, उज्जयिनी की प्रत्येक नारी आपकी मुद्रा को गौरव का चिह्न समझती है। वह उसे चोरी नहीं होने दे सकती और सम्राट् उज्जयिनी में चोरों का निवास नहीं है।

विक्रमादित्य—मैं यह बात सुनकर प्रसन्न हूँ, किन्तु तुम पर अभियोग है कि तुम पुरुष हो। क्या तुम पुरुष हो ?

अभियुक्त—[दृढ़ता से] सम्राट्, मैं पुरुष नहीं हूँ। [विभावरी काँप जाती है।]

विक्रमादित्य—विभावरी, तुम काँप उठीं, इतना क्रोध करने की आवश्यकता नहीं है। मैं अभी निर्णय करता हूँ। [अभियुक्त से] अभियुक्त, क्या मैं प्रहरी को आज्ञा दूं कि वह तुम्हारा वेश-विन्यास परिवर्तित करे ?

अभियुक्त—सम्राट्, उज्जयिनी की नारी को प्रहरी द्वारा अपमानित होने से रोकने की कृपा कीजिए।

विक्रमादित्य—क्या तुम पुरुष नहीं हो, अभियुक्त ?

अभियुक्त—नहीं सम्राट, मैं बचन दे चुकी हूँ कि अपने सम्राट् के सामने असत्य भाषण नहीं करूँगी।

विक्रमादित्य—[विभावरी से] विभावरी, क्या तुम्हारे कहने से अभियुक्त स्वीकार करेगा कि वह पुरुष है ?

विभावरी——[अभियुक्त की ओर दृढ़ता से देखकर] अभियुक्त, तुम पुरुष हो, तुम्हारे स्पर्श में नारी का भाव नहीं था। तुमने मुझसे स्वीकार किया था कि तुम सम्राट के सामने पुरुषत्व स्वीकार करोगे। मेरी लज्जा के लिये स्वीकार करो। अपने वचन की पूर्ति के लिये स्वीकार करो। [अभियुक्त मौन है] देखो, अभियुक्त तुम चुप क्यों हो ? तुम स्वीकार क्यों नहीं करते ?

विक्रमादित्य [विभावरी से] तुम्हारा कथन भी रहस्यपूर्ण है, विभावरी ।

विभावरी—कोई रहस्य नहीं सम्राट् । [अभियुक्त से] अभियुक्त मैं निश्चयपूर्वक कहती हूँ कि तुम पुरुष हो । मेरी ओर देखकर कहो कि मैं पुरुष हूँ ।

अभियुक्त—[विभावरी की ओर देखकर] अच्छा तो मैं पुरुष हूँ ।

विक्रमादित्य—[क्रुद्ध होकर 'अपराजित' म्यान से निकाल कर] सावधान, तुम सत्य से खिलवाड़ कर रहे हो अभियुक्त । राज-मार्यादा का अपमान करने के कारण तुम्हें कठोर दण्ड दिया जायगा । ज्वालामुखी के मुख पर बैठकर तुम अंजलि के जल से अपनी रक्षा करना चाहते हो । [जोर से] प्रहरी !

अभियुक्त— [घुटने टेककर] सम्राट्, क्षमा करें । मैं अपराधिनी हूँ । मैं आपकी करुणा का दान चाहती हूँ । [प्रहरी का प्रवेश; वह प्रणाम करता है ।]

विक्रमादित्य—[अभियुक्त से] तो तुम पुरुष नहीं हो ? अभी विभावरी की ओर देखकर तुमने कहा कि मैं पुरुष हूँ ।

अभियुक्त—मैं स्त्री हूँ । अपने सम्राट् के सामने असत्य भाषण नहीं कर सकती ।

विक्रमादित्य—इसमें कुछ रहस्य है । अच्छा तुम स्त्री ही सही ! [अकस्मात् दूसरी ओर नेपथ्य में देखकर] ओह...इतना भयानक सर्प...... [प्रहरी उस ओर दौड़ता है । अभियुक्ता भागकर सिंहासन के पीछे छिप जाती है ।]

विक्रमादित्य—अभियुक्ता वास्तव में स्त्री है सर्प न होते हुए भी सर्प के नाम से वह विचलित हो गई । पुरुषों का यह लक्षण नहीं है । [विभावरी की ओर देखकर] तुम विचलित नहीं हुई ? [खड्ग म्यान में रखते हुए]

विभावरी—मैं साहसी हूँ, सम्राट्!

अभियुक्त—[आगे बढ़कर] सम्राट्, क्षमा-दान करें। विभावरी पुरुष है।

विक्रमादित्य—ओह, यह रहस्य है! मैं भी अनुमान करता हूँ, विभावरी पुरुष है!

विभावरी—पुष्पिके, तुमने विश्वासघात किया! [अभियुक्त की ओर दृष्टि।]

पुष्पिका—क्षमा हो राजकुमार, प्रयत्न करने पर भी मैं सम्राट के सामने असत्य भाषण नहीं कर सकी।

विक्रमादित्य—[आश्चर्य] राजकुमार!

पुष्पिका—सम्राट्, क्षमा की भिक्षा मांगते हुए निवेदन करती हूँ कि यह विभावरी शक राजकुमार क्षत्रप भूमक है।

विक्रमादित्य—[आश्चर्य और क्रोध से] शक राजकुमार भूमक [तलवार पर हाथ रखते] बोलो राजकुमार भूमक, तुम सौराष्ट्र के युद्ध में कहाँ रहे? क्या इसी वेश में विदिशा की नारियों के बीच छिपे हुए थे? तुम विभावरी हो! क्यों कायर राजकुमार? तुम्हें अपनी माता का स्तन्य लज्जित करते हुए संकोच नहीं हुआ? स्त्री-वेश में तुम्हें अपने पुरुषत्व को कलंकित करते हुए क्षोभ नहीं हुआ? और फिर तुम्हीं अभियोग लाये थे? स्वयं अपराधी होते हुए अभियोग लगाने का साहस! राज-मर्यादा में तुम्हें असत्य का अभिनय आत्म-हत्या करने से अच्छा ज्ञात हुआ? कायरता की प्रतिमूर्ति राजकुमार भूमक!

भूमक—मैं कायर नहीं हूँ सम्राट्!

विक्रमादित्य—तुम कायर नहीं हो? तुम इतने तुच्छ हो कि तुम्हें आर्य-नारी बनने की योग्यता भी नहीं आई! आर्य-नारी ने रोदन किया! उसके कण्ठ की विकृति हुई! अपना पुरुष-स्वर छिपाने के लिये कण्ठ की विकृति! उसने अपमान सहा,

शस्त्र का प्रयोग नहीं किया, वह सम्मान के प्रतिशोध में सम्राट के सामने अभियोगिनी बनी और उसे अभियोग के स्पष्ट करने में लज्जा हुई! ये सब क्या आर्य-नारियों के लक्षण हैं? मुझे पहले ही सन्देह होने लगा था। शकों में आर्य-नारियों का धर्म पहिचानने की क्षमता कहाँ? तुम शक राजकुमार भूमक हो, तुम इन बातों को क्या समझो, तुम केवल स्त्री-वेश धारण करना जानते हो!

भूमक—सम्राट्, आप मेरा अपमान न कीजिये। स्त्री-वेश मैंने अपनी इच्छा से धारण किया। मैं कायर नहीं हूं! यदि आपकी इच्छा युद्ध करने की है तो मेरे लिये भी एक तलवार लाने की आज्ञा दीजिये। मैं जानता हूँ कि मैं आप पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु शक राजकुमार मरने से भी नहीं डरता।

विक्रमादित्य—[मुस्कराकर] मैं यह सुनकर प्रसन्न हूँ। [घण्टे पर चोट करते हैं।] किन्तु विभावरी और भूमक में क्या अन्तर है, यह मैं जानना चाहता हूं? यह सब काण्ड रहस्य के रूप में मेरे सामने क्यों उपस्थित किया गया? स्त्री और पुरुष, फिर पुरुष और स्त्री! मेरे राज्य में इस इन्द्रजाल के लिये स्थान नहीं है!

[प्रहरी का प्रवेश]

प्रहरी—[प्रणाम कर] सम्राट्, कोई सर्प नहीं दीख पड़ा!

विक्रमादित्य—यह मैं जानता हूँ। [विभावरी की ओर संकेत करते हुए] इस स्त्री को शस्त्रागार में ले जाकर इसे सैनिक का वस्त्र-विन्यास दो और साथ ही इसकी रुचि के अनुसार एक तलवार भी।

प्रहरी—जो आज्ञा।

विक्रमादित्य—स्त्री-वेश में मेरे समक्ष तुम अपने पुरुषत्व को

अधिक देर तक लज्जित मत करो क्षत्रप-राजकुमार !

[भूमक का सैनिक के साथ प्रस्थान ।]

विक्रमादित्य—[घूमकर पुष्पिका से] पुष्पिके, जो पुरुष था वह स्त्री-रूप में आया और जिसमें पुरुष की कल्पना थी वह स्त्री ही निकली । यह सब मेरे सामने किस षड्यंत्र का रूप है ?

पुष्पिका—सम्राट् क्षमा करें । यह मेरी व्यक्तिगत जीवन-कथा है । परिस्थिति-वश मुझे यह कार्य करना पड़ा । मैं लाचार थी ।

विक्रमादित्य—तो तुम इस घटना-चक्र की प्रधान पात्री हो ?

पुष्पिका—नहीं सम्राट्, मैं प्रधान पात्री नहीं हूँ ।

विक्रमादित्य—तुम प्रधान-पात्री नहीं हो ? तुमने यह क्यों कहा कि मैं पुरुष हूँ ?

पुष्पिका—उपकार-ऋण से मुक्त होने के लिए, सम्राट् !

विक्रमादित्य—उपकार-ऋण ? किसके उपकार-ऋण से मुक्त होने के लिए ?

पुष्पिका—राजकुमार भूमक ने मेरे प्रति उपकार किया था ।

विक्रमादित्य—कैसा उपकार ?

पुष्पिका—सम्राट्, मैं उज्जयिनी की निवासिनी हूँ । दो वर्ष पूर्व मैं एक कार्य से गुर्जर चली गई थी । अकस्मात् शकों ने गुर्जर पर आक्रमण किया । दुर्भाग्य से मैं भी शकों के हाथों में पड़ गई । जब अन्य बन्दियों के साथ मैं वध-स्थान को ले जाई जा रही थी, उस समय एकाएक इस शक राजकुमार ने आकर मेरी रक्षा की और मुझे स्वतंत्र किया ।

विक्रमादित्य—तुम पर ही यह कृपा क्यों की ?

पुष्पिका—मैं नहीं जानती, सम्राट् !

विक्रमादित्य—संभवतः तुम्हारे सौन्दर्य के आकर्षण ने उससे यह कार्य कराया हो ।

पुष्पिका—जो भी हो, सम्राट् ! किन्तु उसने मेरे आत्म-

सम्मान पर आँच नहीं आने दी और साथ ही मुझे जीवन-दान दिया ! सम्राट्, मुझे इतने बड़े उपकार का बदला देना था।

विक्रमादित्य—तो क्या उपकार का बदला तुम अन्याय-रूप से देतीं ?

पुष्पिका—क्षमा कीजिए, सम्राट्! राजकुमार भूमक ने इसी बात की याचना की थी।

विक्रमादित्य—और इस क्षत्रप-राजकुमार ने स्त्री-वेश क्यों धारण किया ?

पुष्पिका—सम्राट्, जब आपने मालवा, गुर्जर और सौराष्ट्र से शकों को निर्वासित किया तो मेरे ऊपर अनुग्रह रखनेवाले क्षत्रप को गुर्जर छोड़ने में कष्ट हुआ। उसने गुर्जर ही में रहना निश्चय किया, किन्तु पुरुष-वेश में रहना उसके जीवन के लिए संकट का कारण होता, इसलिए उसने स्त्री वेश रखकर रहने में ही अपनी कुशल समझी !

विक्रमादित्य–फिर वह गुर्जर ही में क्यों नहीं रहा ?

पुष्पिका–सम्राट्, दुर्भाग्य से गुर्जर में लोगों की संदेह-दृष्टि उस पर पड़ ही गई। इस समय मुझे उज्जयिनी भी आना था। तो उसने मुझ से प्रार्थना की कि वह भी मेरे साथ उज्जयिनी चले। मैंने उसकी प्रार्थना स्वीकार की।

विक्रमादित्य–क्या तुम उससे प्रेम करती हो ?

पुष्पिका–सम्राट्, उपकार का बदला देना प्रेम करना नहीं कहा जा सकता।

विक्रमादित्य–क्या वह तुमसे प्रेम करता है ?

पुष्पिका–मैं कह नहीं सकती, सम्राट्! किंतु इस प्रकार के व्यवहार की मैंने सदैव अवहेलना की है। इस समय अधिक से अधिक वह मेरा भाई कहा जा सकता है।

विक्रमादित्य–यह सुनकर मैं प्रसन्न हूं, किंतु छद्मवेश रखने

का अपराध करके भी उस राजकुमार को उज्जयिनी में आते हुए भय नहीं हुआ ?

पुष्पिका—उसे मेरे आश्रय का सबसे बड़ा बल था, सम्राट् ! वह समझता था कि मैं उसकी पूर्ण रक्षा कर सकूँगी।

विक्रमादित्य—जो तुम राज्य के समक्ष अपराधिनी होते हुए भी उसकी रक्षा नहीं कर सकीं ?

पुष्पिका—आप रक्षा कर सकते हैं, सम्राट् !

विक्रमादित्य—तुम जानती हो पुष्पिके, शकों को मैं एक ही दण्ड दिया करता हूँ और वह है प्राणदण्ड। किंतु खेद है कि युद्ध में इस क्षत्रप ने मेरा सामना नहीं किया। फिर भी इससे उसके दण्ड की व्यवस्था में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुंचती। अभी एक बात तुम्हें और स्पष्ट करनी है। वह यह कि स्वयं छद्मवेश में उपस्थित होकर और तुम पर अभियोग लाकर उसने अपने किस कार्य की पूर्ति करनी चाही ?

पुष्पिका—सम्राट, कुछ ही दिनों में यहाँ उसे आपके आतंक और मर्यादापूर्ण शासन का ज्ञान हो गया। उसे भय था कि वह किसी दिन भी न्याय-सभा के सामने उपस्थित कर दिया जायगा। अतः उसे उज्जयिनी की प्रत्येक दिशा में सम्राट् विक्रमादित्य का कृपाण दीख पड़ने लगा। उसने निश्चय किया कि वह शीघ्र ही कापिशा चला जावेगा, किंतु मार्ग में उसे प्राणों का भय था, इसलिये उसने सैनिकों के संरक्षण में जाना ही उचित समझा। इसी बात के लिये उसे इस अभियोग की कल्पना करनी पड़ी।

विक्रमादित्य—[सिर हिलाकर] ठीक !

पुष्पिका—और सम्राट, राज्य का यह नियम तो आपने निर्धारित कर दिया है कि नारी के अपमान का दण्ड देश-निर्वासन है। मैं उस दण्ड के अनुसार निर्वासित होती; क्यों-

कि मैं स्वीकार करती कि मैं पुरुष हूं। मेरे दण्डित होने पर वह विभावरी-रूप में आपसे यह प्रार्थना भी करता कि वह स्वयं पदाघात कर मुझे राज्य की सीमा से बाहर करता। इसलिए वह भी मेरे साथ ही साथ सैनिकों के संरक्षण में सीमा तक पहुंच जाता और सीमा पर पहुंचकर वह आपके राज्य से निकल भागता।

विक्रमादित्य—यह रहस्य है!

पुष्पिका—यही कारण है कि उसने मेरी आँखों में आँखें डालकर मुझसे अनुरोध किया था कि मैं आपके सामने यह स्वीकार कर लूँ कि मैं पुरुष हूँ।

विक्रमादित्य—किंतु, इससे अच्छा क्या यह न होता कि वह स्वयं किसी स्त्री को अपमानित कर निर्वासन का दण्ड प्राप्त करता?

पुष्पिका—सत्य है सम्राट्, किंतु आपसे प्राण-दान पाकर भी उसे भय था कि वह मार्ग ही में किसी सैनिक द्वारा न मार दिया जाय!

विक्रमादित्य—तो इस अभियोग में तुम तो निर्वासित हो ही जातीं।

पुष्पिका—सम्राट्, एक उपकारी के लिये मैं यह भी करती, किंतु बाद में मैं पुनः उज्जयिनी लौट आती, आपकी मुद्राओं से सुसज्जित अपना कण्ठहार दिखला कर।

विक्रमादित्य—तो तुमने अपराधी को छिपाकर और उसकी कूटनीति में भाग लेकर राजद्रोह किया है। तुम दण्ड की अधिकारिणी हो।

पुष्पिका—सम्राट्, मैं दण्डित होने को प्रस्तुत हूं, किंतु अपने ऊपर अनंत उपकार करनेवाले शक राजकुमार की केवल एक इच्छा की पूर्ति करना मैंने अपना परम धर्म समझा।

विक्रमादित्य—किंतु, तुम जानती हो कि शकों और आर्यों का परस्पर क्या सम्बंध है ? शकों ने आर्यों पर कितने अत्याचार किये हैं ? उन्होंने ब्राह्मणों का वध किया है। उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म को जड़मूल से उखाड़ने की चेष्टा की है। क्या शहानुशाही क्षत्रपों के शासन से तुम अपरिचित हो ?

पुष्पिका—नहीं सम्राट्, मुझे शकों के अत्याचार की कथा ज्ञात है, किन्तु शक राजकुमार भूमक बहुत दयावान् है। वह कोमल-हृदय है, वह न्यायी है; अन्यथा वह मुझे मुक्त क्यों करता ? वह मेरे सम्मान की रक्षा क्यों करता ? वह जाति से शक है, किन्तु अपने विश्वास से वह पूर्ण आर्य है। जैन धर्म में उसका पूर्ण विश्वास है। वह हिंसा का विरोधी है, वह शक होकर भी शाकाहारी है।

विक्रमादित्य—तुम इस वक्तव्य से उसे निरपराध सिद्ध नहीं कर सकतीं। यदि आर्य-नारी की रक्षा करने के कारण उसे क्षमा भी करदूं तो कपटपूर्ण अभियोग के लिए उसे दण्डित तो करूँगा ही और साथ ही तुम्हें भी।

पुष्पिका—सम्राट्, मुझे दण्ड दीजिए, किन्तु मुझ पर उपकार करनेवाले क्षत्रप-राजकुमार को क्षमा कर दीजिए।

विक्रमादित्य—वह शक-क्षत्रप होने के कारण ही दण्ड का अधिकारी है। शासन का न्याय शक-क्षत्रप को शक्तिशाली नहीं रहने देगा। शकों ने जिस प्रकार आर्य-संस्कृति को कुचलने की चेष्टा की है उसके लिए उन्हें अनेक परम्पराओं तक प्रायश्चित्त की अग्नि में जलना होगा। फिर विक्रमादित्य के सामने आर्य-धर्म का विद्रोही संसार का सबसे बड़ा अपराधी है।

पुष्पिका—क्या राजकुमार किसी भाँति भी क्षमा नहीं किया जा सकेगा ?

विक्रमादित्य—मैं उसे क्षमा भी कर सकता हूँ, किन्तु केवल

एक बात पर और वह यह कि वह आर्य-धर्म स्वीकार करे और सारे देश में उसका प्रचार करे। क्या वह यह प्रायश्चित्त स्वीकार करेगा ?

पुष्पिका—सम्राट्, मुझे आशा नहीं है।

विक्रमादित्य—तब वह अवश्य दण्डित होगा। उसने राज-धर्म की अवहेलना की है। उसने राज्य के प्रति षड्यंत्र किया है, उसने एक झूठे अभियोग से अपनी मुक्ति की कुटिल युक्ति सोची है।

पुष्पिका—[शिथिल होकर] सम्राट् की जो इच्छा !

विक्रमादित्य—और सुनो पुष्पिके, तुम्हारे दण्ड की भी व्यवस्था है। यद्यपि सत्य बोलकर और राजधर्म की मर्यादा मानकर तुमने अपने अपराध की गुरुता कम कर ली है फिर, भी तुम्हें शक-क्षत्रप के साथ गुप्त अभिसन्धि करने के कारण दो मास के कारावास का दण्ड मिलेगा।

पुष्पिका—सम्राट्, मेरे कारावास का दण्ड बढ़ा दीजिए, किन्तु मेरे उपकारी क्षत्रप को क्षमा कर दीजिए।

विक्रमादित्य—यह असंभव है। राजनीति स्त्रियों की विनय-शीलता से तरल नहीं हुआ करती। [प्रहरी के साथ भूमक सैनिक-वेश मे आता है। उसके हाथ में तलवार है। वह एक सुन्दर शरीर का युवक दृष्टिगत होता है।]

विक्रमादित्य—[प्रहरी से] प्रहरी, तुम यहीं द्वार पर बाहर रहो, तुम्हारी आवश्यकता पड़ेगी।

प्रहरी—[सिर झुकाकर] जो आज्ञा। [प्रस्थान]

विक्रमादित्य—[भूमक से] आओ क्षत्रप-राजकुमार भूमक, मैं तुम्हारी गुप्त अभिसन्धि की सब बातें जान चुका हूँ। तुमने राज-मर्यादा का अपमान भी किया है। कपट-पूर्ण अभियोग लाकर तुमने न्याय को धोखा देने की चेष्टा भी की है। तुम कुछ

और कहना चाहते हो ?

भूमक—जब उज्जयिनी की नारी ने भी मेरे साथ विश्वासघात किया तब मुझे और कुछ नहीं कहना।

विक्रमादित्य—तुम इसे विश्वासघात क्यों कहते हो क्षत्रप ? यदि उसने तुम्हारे पवित्र विश्वास की अवहेलना की होती तो वह निश्चय ही विश्वासघातिनी होती किन्तु उसने सत्यासत्य का निर्णय करते हुए पवित्र राजधर्म की मर्यादा रखी। क्या इस आचरण के लिए तुम उसकी सराहना नहीं करोगे ?

भूमक—सम्राट्,मैंने स्वयं अपने दल के सैनिकों से उसकी रक्षा की थी। मैं चाहता था कि वह भी आर्य-सम्राट् से मेरी रक्षा करती।

विक्रमादित्य—तो तुम उपकार का प्रतिदान चाहते हो ?

भूमक—नहीं, संकटकाल में केवल आत्म-रक्षा, और कुछ नहीं।

विक्रमादित्य—किन्तु यह आत्म-रक्षा कपट-पूर्ण अभियोग से नहीं हो सकती। तुम द्वन्द्व के लिए प्रस्तुत होकर आए हो ? [तलवार हाथ में तोलते हैं।]

भूमक—मैं प्रस्तुत होकर आया हूँ, सम्राट्! [तलवार हाथ में सँभालता है।]

विक्रमादित्य—किन्तु तुम्हें युद्ध-दान नहीं मिलेगा।

भूमक—मैं कारण जानना चाहता हूँ।

विक्रमादित्य—कारण यह है कि स्त्री-वेश धारण कर लेने वाले व्यक्ति मेरे द्वन्द्व के योग्य नहीं रह जाते। मेरे सामने विभावरी का रूप है, मैं उस पर कृपाण नहीं रख सकूंगा। तुम्हारे लिए वधिक का कृपाण हो सकता है। विक्रमादित्य का 'अपराजित' नहीं। तुम तलवार पृथ्वी पर रख दो।

भूमक—किन्तु मैं द्वन्द्व चाहता हूँ।

विक्रमादित्य— [तीव्र स्वर] तुम न्याय-सभा के सामने हो क्षत्रप !

भूमक—[लज्जा और क्रोध से तलवार फेंक देता है ।]

विक्रमादित्य—न्याय की आज्ञा पालन करने के कारण मैं प्रसन्न हुआ । भूमक, तुमने स्त्री-वेश धारण कर राज्य-दृष्टि के प्रति छल किया । झूठा अभियोग लाकर तुमने राज-मर्यादा का अपमान किया, इसलिए तुम कठोर दण्ड के पात्र हो । किन्तु भूमक, किसी समय तुमने एक आर्य-नारी की प्राण-रक्षा की थी इस कारण तुम्हें आंशिक रूप से क्षमा भी दी जा सकती है, यदि तुम राज्य के नियम के अनुसार प्रायश्चित्त करो । तुम्हें प्रायश्चित्त करना स्वीकार है ?

भूमक—मुझे किसी प्रकार का भी प्रायश्चित्त करना स्वीकार नहीं है ।

विक्रमादित्य—फिर झूठे अभियोग के लिए दण्ड निश्चित है ।

भूमक—जो आपके समक्ष झूठा अभियोग है वह मेरे समक्ष मेरी राजनीति है ।

विक्रमादित्य—किन्तु मैं तुम्हें अपनी राजनीति से दण्ड दे रहा हूँ । सम्राट के साथ कपट करने का दण्ड तुम जानते हो, भूमक ?

भूमक—सम्राट्, मैंने कभी जानने की इच्छा नहीं की ।

विक्रमादित्य—तो अब जान लो । तुम्हारे दोनों हाथ काट लिए जावेंगे ।

पुष्पिका [शीघ्रता से घुटने टेककर] क्षमा सम्राट्, क्षमा ।

विक्रमादित्य—उठो पुष्पिके, उठो, तुम पहले से ही दण्डित हो । अब तुम्हें कुछ कहने का अधिकार नहीं है । [भूमक से]

और भूमक, तुम्हारे दण्ड की व्यवस्था मैं इसी समय करूंगा।

[पुष्पिका उठती है।]

भूमक—सम्राट्, मैं सब समय प्रस्तुत हूँ।

[विक्रमादित्य घण्टे पर चोट करते हैं।]

विक्रमादित्य—भूमक, मुझे केवल दुःख यही है कि तुम्हारे हाथों के न रहने से मैं कभी तुम्हारा युद्ध-कौशल न देख सकूंगा, किन्तु कोई चिन्ता की बात नहीं। हाँ, अपने शेष जीवन में तुम यह प्रयत्न करना कि अगले जन्म में तुम्हारे दोनों हाथ जीवन भर काम दे सकें।

[प्रहरी का प्रवेश।]

विक्रमादित्य—[प्रहरी से] प्रहरी, वधिक को शीघ्र यहां आने की आज्ञा सुनाओ। आज फिर भगवान् ज्योतिर्लिंग महाकालेश्वर को रक्त का अभिषेक होगा।

प्रहरी—[सिर झुकाकर] जो आज्ञा।

विक्रमादित्य—पुष्पिके, अपने उपकारी के प्रति जो कुछ भी श्रद्धावाक्य कहना है मेरे सामने ही कह लो। मुझे खेद है कि तुम्हारी क्षमा-प्रार्थना मुझे अस्वीकार करनी पड़ी। किन्तु शासन का न्याय सर्वोपरि है। वह शकों के सम्बन्ध में क्रूर है और अपराधियों के सम्बन्ध में दृढ़। वह तुम्हें अन्याय के समर्थन की आज्ञा नहीं देगा और [भूमक से] राजकुमार भूमक, मुझे खेद है कि तुम यहाँ एकाकी आए। यदि तुम्हारे कुछ साथी और होते तो पारस्परिक सहानुभूति में तुम लोगों का दुःख कुछ कम होता।

भूमक—सम्राट्, मुझे अपने दुर्भाग्य की चिन्ता नहीं है।

विक्रमादित्य—ठीक है, तुम्हें सन्तोष होगा कि अब हाथों से रहित होने पर तुम कपट करने के पाप से बचे रहोगे।

भूमक—यदि राजनीति ही कपट हो तो मैं उसमें पाप नहीं समझता। फिर भी, मैं अपमानित होकर जीवित नहीं रहना चाहता। आप वधिक को आज्ञा दें कि वह हाथों के बदले मेरा सिर काट दे।

विक्रमादित्य—नहीं, यह आज्ञा नहीं दी जा सकती, विक्रमादित्य द्वन्द्व और रण-स्थल के अतिरिक्त किसी अन्य स्थल पर प्राणदण्ड नहीं देता। मैं केवल तुम्हारे हाथ काटने की आज्ञा दे सकूंगा। फिर तुम्हारे खण्डित शरीर से मुझे अन्याय रोकने में भी सहायता मिल सकेगी। तुम दण्ड के प्रतीक बनकर इस प्रकार की न्याय-सभा करने के अवसर कम आने दोगे।

[वधिक का प्रवेश। अर्ध-नग्न, भयानक शरीर। कमर में जाँघिया। हाथों में कड़े। बाल खुले हुए। माथे पर त्रिपुण्ड, और हाथ में कृपाण। वह आकर प्रणाम करता है।]

विक्रमादित्य—वधिक, तुम्हारे सामने यह शक अपराधी है। न्याय की आज्ञा है कि तुम इसके दोनों हाथ काट दो।

पुष्पिका—[आगे बढ़कर, हाथ जोड़कर] सम्राट्, यदि आप राजकुमार को क्षमा नहीं करते तो मेरे भी दोनों हाथों के काटे जाने की आज्ञा दीजिए। अपने ऊपर उपकार करने वाले को दण्डित होता हुआ देखकर मेरी आत्मा मेरा तिरस्कार कर रही है। सम्राट्, मेरी प्रार्थना है।

विक्रमादित्य—[तीक्ष्ण स्वर से] अपने स्थान पर ही रहो पुष्पिके, तुम्हारा न्याय हो चुका है। न्याय के आदेश में परिवर्तन के लिए कोई स्थान नहीं है, जब तक कि अपराधी राज-विधान के अनुसार प्रायश्चित्त न करे। मैं अपनी ओर से एक बार फिर अवसर दे सकता हूँ। क्षत्रप, तुम प्रायश्चित्त करने के लिए प्रस्तुत हो?

भूमक—[दृढ़ता से] नहीं।

विक्रमादित्य—[वधिक से] वधिक, तुम अपना कार्य करो।

वधिक—[भूमक से] अपराधी, घुटने टेको।

[भूमक घुटने टेकता है।]

वधिक—दोनों हाथ जोड़कर आगे बढ़ाओ।

[भूमक दोनों हाथ जोड़कर आगे बढाता है।]

विक्रमादित्य—शक राजकुमार, इन हाथों से एक बार भगवान् ज्योतिर्लिंग महाकालेश्वर को प्रणाम करो, फिर प्रणाम करनेवाले ये हाथ नहीं रहेंगे।

भूमक—सम्राट्, क्षमा करें, मैंने तीर्थंकरों और शक-सम्राटों के अतिरिक्त किसी को प्रणाम नहीं किया।

विक्रमादित्य—अब उन्हें दूसरे जन्म में प्रणाम करना। राजकुमार अब तुम प्रस्तुत हो ?

भूमक—मैं प्रस्तुत हूँ, सम्राट्!

विक्रमादित्य—[वधिक से] वधिक, अब तुम भी प्रस्तुत हो जाओ।

वधिक—जो आज्ञा। [वह अपना कृपाण उठाता है।]

विक्रमादित्य—तुम और कुछ कहना चाहते हो, क्षत्रप ?

भूमक—कुछ नहीं सम्राट्! मैं केवल यही दुःख लेकर संसार में रहूँगा कि विक्रमादित्य सम्राट्, मांगने पर भी मुझे मृत्यु नहीं दे सके। मुझे एक दुःख और रहेगा कि अब हाथों के न रहने से मैं अपने सम्मान की रक्षा न कर सकूंगा।

पुष्पिका—[गहरी साँस लेकर] और समय पड़ने पर इन हाथों से किसी नारी की रक्षा भी नहीं हो सकेगी।

विक्रमादित्य—दो दुःख तुम्हारे और एक दुख पुष्पिका का। तीन दुःख हुए। मैं इसके लिए आर्य-धर्म के तीन स्मारक बनवाऊँगा। और कुछ ? [कुछ रुककर] कुछ नहीं ? [वधिक से] वधिक, महाकालेश्वर का अभिषेक हो।

[वधिक तलवार उठाकर वार करता है। पुष्पिका शीघ्रता से आगे बढ जाती है और उसके माथे में चोट लग जाती है। वह गिर पड़ती है। विक्रमादित्य शीघ्रता से बढ़कर उसके समीप पहुँचते हैं।]

विक्रमादित्य—[वधिक से] वधिक ठहरो। [वधिक सहमकर पीछे हट जाता है।] [गहरी साँस लेकर पुष्पिका से] पुष्पिके, यह तुमने क्या किया ?

पुष्पिका—[टूटे स्वर से] अपने उपकारी की रक्षा, सम्राट् !

भूमक—[उठकर] सम्राट्, मैं प्रायश्चित्त करने के लिए प्रस्तुत हूँ।

विक्रमादित्य—[उठकर] क्षत्रप, यदि तुम पहले ही प्रायश्चित्त करने के लिए प्रस्तुत हो जाते तो पुष्पिका को चोट नहीं लगती।

भूमक—सम्राट्, मुझे आपके शासन में उज्जयिनी की नारी की महानता ज्ञात नहीं थी। मैं नहीं जानता था कि आपने अपने शासन का आदर्श इतना ऊँचा रखा है, जिसमें नारियाँ उपकार का बदला देने के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग तक कर सकती हैं।

विक्रमादित्य—तो तुम प्रायश्चित्त करने के लिए प्रस्तुत हो ?

भूमक—हाँ सम्राट्, मैं प्रस्तुत हूँ।

विक्रमादित्य—[वधिक से] वधिक, तुम जा सकते हो।

[वधिक का सिर झुकाकर प्रस्थान।]

विक्रमादित्य—[भूमक से] भूमक, मुझे प्रसन्नता है कि तुम प्रायश्चित्त करने के लिये तैयार हो। प्रायश्चित्त की पहली व्यवस्था यह है कि तुम पुष्पिका को अपनी बहन समझकर—यदि वह जीवित रही तो—उसकी सुश्रूषा का भार लोगे। स्वीकार है ?

भूमक—[सिर झुकाकर] स्वीकार है, सम्राट्! [पुष्पिका के सिर

को अपने घुटने पर रखता है।]

विक्रमादित्य—प्रायश्चित्त की दूसरी व्यवस्था यह है कि तुम जैन-धर्म को छोड़कर आर्य-धर्म का पालन करोगे और उसका प्रचार सौराष्ट्र के समीपवर्ती प्रदेश में करोगे। स्वीकार है ?

भूमक—[सिर झुकाकर] स्वीकार है, सम्राट् !

विक्रमादित्य—गो-ब्राह्मण की रक्षा करने का पुनीत कर्तव्य तुम्हारे जीवन का प्रथम कर्तव्य होगा। स्वीकार है ?

भूमक—[सिर झुकाकर] मैं स्वीकार करता हूँ, सम्राट् !

विक्रमादित्य—तो आज अपनी सारी प्रतिज्ञाओं को भगवान महाकालेश्वर के मन्दिर में अभिमंत्रित करो।

भूमक—मुझे स्वीकार है, सम्राट् ! पुष्पिका के महान् उत्सर्ग मे आपके चरित्र-बल की श्रेष्ठता छिपी हुई है। सुगंधित पुष्प का विकास बसंत ही में होता है। आपके शासन में मैं अनुभव करता हूँ कि जैसे आर्य-धर्म का सूर्य अपनी उज्ज्वल और प्रखर रश्मियों से भारतीय गगन-मण्डल में चमक रहा है और उसके सामने छल का कोई बादल नहीं आ सकता। मैंने स्वयं अपनी आँखों से देख लिया कि आपके राज्य में कोई षड्यंत्र सफल नहीं हो सकता। आज मुझे गौरव है कि मैं आपका सेवक और आर्य-धर्म का सच्चा अनुयायी हूँ।

विक्रमादित्य—[हाथ उठाकर] तब तुम मुक्त हो, क्षत्रप-राज-कुमार !

पुष्पिका—सम्राट् [टूटे स्वर में] मेरी...प्रार्थना...पूरी... हुई...मैं...कृतज्ञ...हूँ ! और....और...मेरी...एक.....प्रार्थना ...और...है ! आज...की...अमर...घटना......की.,..... स्मृति...में...आपका...संवत्...प्रचलित...हो !

भूमक—हाँ, सम्राट्, अभी तक के मान्य युधिष्ठिर-संवत्

के स्थान पर विक्रम-संवत् का प्रचलन हो, यह मेरी भी प्रार्थना है।

विक्रमादित्य—[हाथ उठाकर] तथास्तु ! पुष्पिके, तुम आदर्श नारी हो, तुम्हारी सुश्रूषा में राज्य की विशेष सहायता रहेगी। तुम्हारे आदर्श आचरण के कारण तुम्हारा अपराध भी क्षमा किया गया।

भूमक और पुष्पिका—[सम्मिलित स्वर में] सम्राट् विक्रमादित्य की जय हो !

[सम्राट् विक्रमादित्य अभय-मुद्रा में हाथ उठाते हैं।]

[परदा गिरता है।]

श्री उदयशंकर भट्ट

आधुनिक एकांकी नाटककारों में श्री उदयशंकर भट्ट का स्थान बहुत ऊंचा है। यह स्वभाव से कवि हैं किन्तु इन्होंने अपनी साहित्य-साधना के सहारे निरन्तर विषय और शैली की दृष्टि से अनेक प्रकार के नाटक और एकांकी-नाटक लिखे हैं। इनके नाटकों में जहां हृदयवाद और बुद्धिवाद दोनों का सामंजस्य रहता है वहां काव्य और नाटय का भी सामंजस्य मिलता है। इन्होंने हिन्दी-नाटकों में दुःखपूर्ण नाटक लिखने की प्रथा चलाई है और इन्हें जीवन के अनेक चित्रों को स्पष्ट करने में विशेष सफलता मिली है। इनके नाटकों में घटना कौतूहल भले ही न हो फिर भी पात्रों के चरित्र में मनोवैज्ञानिक ढंग से आन्तरिक द्वन्द्व को सफलता-पूर्वक विकसित करने में सफल हुए हैं।

भट्ट जी पात्रों के अनुरूप भाषा की सृष्टि करने में सिद्ध हस्त हैं। इनकी एकांकी रचनाओं में निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं :—अभिनव एकांकी, समस्या का अन्त, स्त्री का हृदय और आदिम-युग।

श्री भट्ट का 'धूम शिखा' परित्यक्त सी, उपेक्षिता नारी का करुण चित्र है जो अपनी वेदना-वह्नि से वासना-प्रिय पति के हृदय का काया-कल्प कर देती है और-तब भी एक स्वाभिमान की और दूसरा पश्चा-ताप की अग्नि में धूम शिखा-सा जलता रहता है।

पात्र

मंदाकिनी—

साधना—

विपिन बाबू—आगन्तुक

धूम-शिखा

[१६ × १४ का एक साफ़-सुथरा कमरा। दक्षिण की दीवार के किनारे एक पलँग बिछा है, जिसके पैर पूर्व को और सिरहाना पश्चिम को है। पलँग के साथ दीवार में किताबों की आलमारी है। पश्चिम की तरफ़ भी एक आलमारी में कुछ दवा की शीशियाँ हैं। पलँग से कुछ दूर हटाकर पूर्वाभिमुख सोफा-सेट एक फटे कालीन पर रखा है। बीच में छोटी मेज़ है। पलँग के सहारे भी सिरहाने की तरफ़ एक मेज पर कुछ दवा की शीशियाँ, थर्मामीटर, एक छोटा गिलास, एक पिर्च, कुछ पुड़ियाँ रखे हैं। पलँग के साथ ही एक कुर्सी रखी है। पूर्व की दीवार के बीच दूसरे कमरे में जाने का दरवाज़ा है, जिस पर हरा पर्दा पड़ा है। दक्षिण की किताबों की आलमारी के ऊपर दो चित्र हैं—एक पुरुष का और दूसरा स्त्री का। देखने से ज्ञात होता है, मकान किसी साधारण मध्य-गृहस्थ का है। मंदाकिनी पलँग पर लट्ठे की सफेद चादर ओढ़े सीधी लेटी है। उसकी उम्र लगभग २६ वर्ष है। छरहरे बदन की लम्बी स्त्री। गोरा पीलिमा लिए हुए रंग। नख-शिख से सुन्दर, परन्तु बीमारी के कारण कुछ दुर्बल। खिचड़ी बाल। बड़ी-बड़ी आँखों में किसी अतीत की घटना की छाया। इस कारण सब-कुछ देखती हुई भी मालूम होता है, ध्यान और नेत्र-चित्र किसी और तरफ़ हैं। मंदाकिनी के सिरहाने के साथ एक बहुत छोटे बालक का चित्र है, वह उसे देखती है। वह बार-बार उसे देखती है, फिर उलटकर रख देती है। कभी पैरों की तरफ़ फेंक देती है। फिर उठाकर देखने लगती है। फिर फेंक देती है। इस तरफ़ कार्ड-साइज़ उस चित्र की आकृति बहुत-कुछ बिगड़ भी गई है। फिर भी बालक का चित्र इतना बिगड़ा नहीं है। उसका यही काम है, चित्र देखना,

कुछ बड़बड़ाना और पटक देना। फिर कभी बैठ जाती है, कभी उत्तर की ओर शून्य दृष्टि से दर्शकों को देखने लगती है। मंदाकिनी पागल नहीं है, किन्तु कभी-कभी उसकी चेष्टा दर्शकों के हृदय में भ्रम उत्पन्न कर देती है। फिर सावधान होकर आलमारी से कोई किताब निकालकर उसके दो-एक पृष्ठ उलट-पलटकर पढ़ती है। फिर रख देती है। कभी तकिये के सहारे बैठकर बालों पर हाथ फेरती है। अपनी कलाइयों, उनकी मनहरी चूड़ियों को देखती है, फिर गुम-सुम। फिर चित्र उठाकर देखने लगती है। और उठाकर इतने ज़ोर से फेंक देती है कि वह पूर्व की तरफ़ दीवार से जाकर टकराता है। इसी समय कुछ दूर ग्रामोफोन का एक रिकार्ड बज उठता है। मंदाकिनी तन्मय होकर सुनने लगती है, फिर एकदम 'नहीं, नहीं' कहकर कान बन्द कर लेती है। आँखें मीच लेती है रिकार्ड प्रेम-भरे गीत का है।]

मंदाकिनी (अपने-आप)—यह हृदय का गीत नहीं है। (खाँसना) मैंने कल्पना के पंखों पर उड़कर जीवन के ताजमहल का चित्र बनाया, प्राणों का विश्वास होमकर (खाँसना) जीवन की सुरभि-भीनी उषा में हृदय-मंदिर की लालसा देवी की प्रतिष्ठा की, (रुककर) हारिल पत्ती की तरह अनन्त आशा के व्योम में उड़ी; किन्तु...किन्तु मेघों में चमचमाती विद्युत् की तरह मेरा उल्लास, मेरी कामनाएँ, मेरे जीवन के स्वप्न लुप्त हो गए। (चुप्पी) आज मेरी साँसें मेरी दीनता, मेरी कमजोरी की कहानी कहने को बार-बार निकलती हैं, (खाँसना) उठती हैं और वहीं किसी कोने में लीन हो जाती हैं। सूखी सरिता की रेत का एक-एक कण साधना के आलोक का सहारा पाकर कभी-कभी चमक उठता है। फिर वही रेत, जड़, निर्जीव रेत का कण। तुम्हें मैंने हृदय का सर्वस्व देकर, कल्पना, सत्य, सौन्दर्य, लालसा का आसव पिलाकर पाला था; किन्तु...किन्तु निष्ठुर, तुमने कमलिनी को ठुकरा दिया, पीस दिया, मसल डाला।

ओह, जीवन भार हो गया है! (खाँसना) तप्तांगार की तरह मेरी अभिलाषाएँ जल उठी हैं, नहीं, नहीं, भस्म हो गई हैं। अब क्या शेष है—मरे हुए भैंसे के शरीर से कीड़ों के कुलबुलाने की तरह कुछ साँसों का आना और जाना। (चुप) शेष रात्रि के तारक-दल की तरह धीरे-धीरे, पल-पल, क्षण-क्षण निष्प्रभ होते जाना। क्यों न इसी में जीवन का सुख मान लूँ। मैं सुखी हूँ। (खाँसना) अटक-अटककर प्राण जा रहे हैं। तटों से टकराती सरिता बह रही है, इसी तरह साँसें सदा को बाहर जाने के लिए बाहर निकलकर फिर भीतर चली जाती हैं, जैसे वे निकलकर भागने का मार्ग ढूँढ़ रही हों। यह भी सुख है। (खाँसना) साधना, दवा दे जा, बहन! (नेपथ्य से—आई जीजी, अभी आई।) मैं जीना चाहती हूँ री। यह गीत बन्द नहीं होता। कान फाड़ दे रहा है न-जाने कैसे मूर्ख हैं लोग। ज़बरदस्ती लोगों के कानों में बिना चाहे रस भर देना चाहते हैं। (लेट जाती है।)

साधना—रामू ने दवा लाने में देर कर दी। उसी की प्रतीक्षा कर रही थी। (दवा देती है) कैसा जी है ?

मंदाकिनी (चुप रहकर)—लोग यह व्यर्थ कहते हैं कि तिमिर में आनंद नहीं होता। तिमिर का फैलाव ही उसका सुख है। (चित्र देखती है।) चित्र भी तो जीवन का संकेत देता है, साधना !

साधना (पास जाकर)—क्या कह रही हो, कुछ समझ में नहीं आता। डाक्टर ने कहला भेजा है कि कल से इंजेक्शन लगा देंगे।

मंदाकिनी (चित्र की ओर देखती हुई)—कौन कह सकता है, चित्र का जीवन एकांकी नाटक की तरह अपने ध्येय के प्रति तीव्र नहीं होता, साधना !

(फिर रिकार्ड बज उठता है ।)

मंदाकिनी—नहीं, नहीं, यह मेरे हृदय का गीत नहीं है। मेरे श्वासों की धूम-शिखा है। मैं नहीं सुनना चाहती, नहीं सुनना चाहती। (तकिये से कान बन्द कर लेती है। रिकार्ड बन्द हो जाता है वह उठकर बैठ जाती है और सामने की तस्वीर देखने लगती है।)

साधना—जीजी, कैसा जी है? यह तुम्हारा पत्र है। भीतर कार्निस पर रखा हुआ था। अचानक मेरी निगाह पड़ गई।

मंदाकिनी—पत्र, कैसा पत्र! मैंने पिछले तीन वर्ष से पत्र पढ़ना-लिखना बन्द कर दिया है, साधना! फेंक दो इसे। (खाँसना)

साधना—फेंक दूँ, न-जाने कैसा पत्र है। क्या लिखा है। देख लो न एक बार। शायद किसी काम का हो।

मंदाकिनी—मुझे मालूम है, वह किसका पत्र होगा। अच्छा लाओ, देखूँ। (मंदाकिनी पत्र लेकर पढ़ने लगती है पढ़ती रहती है। मुखाकृति पर कभी हर्ष, कभी शोक, कभी विषाद, कभी आश्चर्य छा जाता है। दस-पन्द्रह सेकेंड तक यही अवस्था रहती है। फिर उठाकर एक तरफ फेंक देती है। गुम-सुम हो जाती हैं। फिर सामने के चित्रों की ओर देखने लगती है।)

साधना—कैसा पत्र है? तुम तो एकदम गुम-सुम हो गईं।

मंदाकिनी—(चुप)

साधना (फिर थोड़ी बाद)—कैसा पत्र है, जीजी?

मंदाकिनी (चित्र पर निगाह जमाए हुए) स्वर्ग-स्वप्नों का निमंत्रण है, साधना, प्रलय से छिन्न-भिन्न प्लावित भूमि पर प्रासाद निर्माण करने का आवाहन है! (खाँसना)

साधना (कुछ देर चुप रहकर)—क्या कहा, स्वर्ग-स्वप्नों का निमंत्रण और क्या चाहिए। मनुष्य को इससे अधिक क्या

चाहिए। तुम पिछले एक वर्ष से रुग्ण हो, मध्याह्न में ही तुमने संध्या को निमंत्रण दे डाला है जीजी, यह क्या कोई अच्छी बात है ? जीवन को आग में लपेटकर हँसना तो जीवन की कला नहीं हैं। मैं भी तो सुनूँ क्या लिखा है पत्र में।

मंदाकिनी (ध्यान में)—वह लिखा है, जो अब नहीं हो सकता, जो लौट नहीं सकता। नहीं, अब नहीं। (लेटकर) वह आना चाहता है, एक बार मिलना चाहता है। किन्तु (तेज़ी से) इस कंकाल में अब क्या है ? नहीं, मेरी आत्मा विषाद का काला विष पीकर सो गई है। अब उसमें हास नहीं है, उल्लास नहीं है। मैं पतझड़ हूँ, साधना ! (तीव्र) यहाँ मधुमास नहीं आ सकता। नहीं, अब नहीं। (खाँसना)

साधना (मंदाकिनी के बालों में हाथ फेरती हुई) जीजी, बहुत मत बोलो।

मंदाकिनी—तुम जाओ साधना, आज ही रात की गाड़ी से चली जाओ। तुम कहाँ तक मेरा साथ दे सकोगी ? मुझे मेरे भाग्य पर छोड़ दो। (खाँसती है और करवट बदलकर लेट जाती है।)

(दरवाज़ा खटखटाने की आवाज़)

साधना—कौन ? अन्दर चले आइए। (बिखरे बाल, अपरूप मुखाकृति, अस्तव्यस्त वेश में एक व्यक्ति आता है। उसके रूप को देखकर ज्ञात होता है, वह कभी सुन्दर रहा होगा। वयस ३५ वर्ष।) कहिए ?

आगन्तुक—(थूक के घूँट निगलता-सा)—यह···यह···मैं कहता हूँ···

साधना—(खड़ी होकर उसका रूप देखती है)—आप किसको चाहते हैं ?

आगन्तुक (चारपाई पर लेटी मंदाकिनी को देखकर)—मैं मंदा-

किनीदेवी से मिलना चाहता हूँ। क्या यही हैं? सुना है, ये बीमार हैं।

साधना—जी हाँ, वे बीमार हैं। (थोड़ी देर दोनों चुपचाप खड़े रहते हैं) बैठ जाइए।

आगन्तुक—(थोड़ी देर बैठा रहकर)—सो रही हैं।

साधना—कमजोरी है। आपको क्या काम है इनसे?

(आगन्तुक ध्यानमग्न सा बैठा रहता है।)

साधना—(उधर जाकर, जिधर वह लेटी है)—जीजी, देखो।

आगन्तुक—सोने दीजिए। मैं बैठा हूँ। इनको यह कष्ट कब से है?

साधना—पिछले एक वर्ष से। अब तो...

(मंदाकिनी करवट बदलकर आगन्तुक को देखती है। उसके चेहरे पर कोई भी भावोदय नहीं होता—न हर्ष, न विषाद, न उपेक्षा, न घृणा।)

आगन्तुक (पास की कुर्सी के पास झुकने के लिए आगे बढ़ता है, फिर सहमकर पीछे हट जाता है, फिर गले के घूँट निगलने का प्रयत्न करता है) —मंदाकिनी, (जोर से) मंदाकिनी... !

साधना—धीरे बोलिए, महाशय। जीजी!

(आगन्तुक फिर चुप हो जाता है।)

मंदाकिनी—क्या है?

आगन्तुक—मंदाकिनी, कैसी हो?

मंदाकिनी—जैसी तुम चाहते थे। ज़रा तुम मेरे हाथ दबाओ, साधना!

आगन्तुक—लाओ, मैं दबाता हूँ। (आगे बढ़ता है)

मंदाकिनी—तुम्हीं दबाओ, साधना!

(आगन्तुक व्यक्ति मंदाकिनी द्वारा पढ़ा हुआ पत्र नीचे पड़ा देखकर उठा लेता है और उसे पढ़ने लगता है। साधना को इसकी यह चेष्टा अच्छी नहीं लगती।)

साधना—ज्ञात होता है, वेश की अस्तव्यस्तता से बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है।

आगन्तुक—यह मेरा ही लिखा हुआ पत्र है। मंदाकिनी···

(मंदाकिनी आगन्तुक की तरफ देखती है, परन्तु शून्य दृष्टि से।)

आगन्तुक—मैं पिछले तीन वर्ष से बराबर सोचता रहा हूँ। जितना ही मैं सोचता हूँ, उतना ही मेरा तुम्हारे प्रति आकर्षण प्रबल होता जाता है। मैं मानता हूँ, मैंने पाप किया है, किन्तु पाप का क्या कोई प्रायश्चित नहीं है? परन्तु इसमें मेरा उतना अपराध नहीं है, मंदाकिनी! मैं विवश था, पराधीन था, मुझे मजबूर कर दिया गया।

(मंदाकिनी स्त्री के चित्र की ओर देखती है।)

आगन्तुक—तुम मेरे प्रश्न का उत्तर चित्र से पूछना चाहती हो? मैं स्वयं ही सब कुछ स्पष्ट कर देने के लिए उद्यत होकर आया हूँ। मैं इस अवस्था में नहीं रह सकता। मुझे यह भार असह्य हो गया है। जीवन असह्य हो गया है। मैं इसका अन्त कर देना चाहता हूँ। तुम मेरी ओर देखो। उस मनुष्य की ओर देखो, जिसने अपने जीवन में कभी मैला सूती कपड़ा नहीं पहना, जिसने कार से नीचे कभी सड़क पर पैर नहीं रखा, जिसने कभी कोई कार्य अपने हाथ से नहीं किया, जिसने···

मंदाकिनी—मेरी तबीयत ठीक नहीं है, विपिन बाबू!

आगन्तुक—(उसी आवेश में)—मैं जानता हूँ, मैं इसीलिए आया हूँ। मेरी भी तबीयत ठीक नहीं है, मंदाकिनी! मैं भी जीवन से ऊब गया हूँ। फिर भी मरने से पूर्व मैं एक बार सब-

कुछ कह डालना चाहता हूँ, सब-कुछ।

साधना—आपकी तबियत ठीक न होने का यह आशय तो नहीं कि दूसरे को कष्ट दिया जाय।

आगन्तुक—मैं जानता हूँ, मंदाकिनी को क्या रोग है। हम दोनों एक ही रोग के रोगी हैं। मैंने निश्चय किया है कि यहाँ से निराश लौटने पर मैं···। यही मेरा निश्चय है।

मंदाकिनी (उठकर)—क्या आत्म-हत्या कर लोगे? कर लो आत्म हत्या! एकका नहीं, दो-दो प्राणियों का जीवन नष्ट करके आज आत्म हत्या पर उतारू हुए हो विपिन बाबू, लज्जा नहीं आती आपको। न मैं कुछ सुनना चाहती हूँ, न मुझे कुछ कहना है। मैं अपनी घुटन में ही घुटकर मर जाना चाहती हूँ। मुझे मैं जैसी हूँ, वैसी ही रहने दो। (लेटती है)

आगन्तुक—तुम भूलती हो। मनुष्य का जीवन इसलिए नहीं कि वह आशा किरण पाकर अँधेरे में जा उसका सुखोपभोग न करे।

साधना—तुम लेटी रहो, जीजी! उठना मत। मैं अभी आई। (जाने लगती है)

मंदाकिनी—नहीं, साधना, तुम बैठो। (खाँसती है, खाँसते-खाँसते दम उखड़ जाता है। विपिन उठकर पीठ पर हाथ फेरता है। बाएं हाथ में थूकने की चिलमची लेकर मंदाकिनी को थूकने देता है। फिर रख देता है। तुम लोग बैठ जाओ, बैठ जाओ।

साधना—भयानक कष्ट है।

आगन्तुक—आँतें खाँसते खाँसते ऊपर को आ जाती हैं। किस डाक्टर का इलाज हो रहा है? मैं इन्हें पहाड़ पर ले जाने आया हूँ। वहाँ इनकी तबीयत ठीक हो जायगी।

साधना—वही रजनी भट्टाचार्य की तो। डाक्टर भी कहता है, भुआली चली जाओ, दो-तीन महीनों में ठीक हो जाओगी।

आगन्तुक—फिर ?

साधना—जाती ही नहीं। मैं तो बहुत कहती हूँ। कुछ...

आगन्तुक—(चुप रहकर सोचने लगता है)—मुझे आज्ञा दो, तो मैं तुम्हारी सेवा के लिए चल सकता हूँ, मंदाकिनी! मुझे इतना ही सहारा दो। मैं और कुछ नहीं चाहता। मैं तुम्हें ले चलूँगा। (खाट के सिरहाने बैठता है)

मंदाकिनी—नहीं, नहीं, मैं नहीं जा सकती।

साधना—जीजी, विपिन बाबू का प्रस्ताव अनुचित नहीं है। जीवन सुख के लिए है, आपने-आप बनाए कष्ट भोगने के लिए नहीं है।

(मंदाकिनी चुप रहती है।)

आगन्तुक—मैं जानता हूँ, तुम्हारी बीमारी क्या है, मंदाकिनी! वह केवल मेरी सेवा से ही ठीक हो सकती है। तुम मुझे अवसर दो, जिससे मेरी दग्ध आत्मा को शांति मिले। मैं जल रहा हूँ, मंदाकिनी। मैं हृदय की खुजली से परेशान हूँ। जितना ही जलन बुझाने के लिए खुजलाता हूँ, उतनी ही यह बढ़ती जाती है।

मंदाकिनी—मेरी बहन का चित्र अभी तक मेरे सामने है। उसका भोला मुख अब भी मुझसे तुम्हारी कृतघ्नता की कहानी कह रहा है। तुम्हीं ने उसे मर जाने दिया। तुम्हीं ने उस निरपराध बालिका को फुसलाकर उसका सब-कुछ नष्ट कर दिया। (रुककर) तुम्हीं ने उसे मार डाला। अब मेरे पास आए हो, मेरे पास! मैं जीवन के किनारे पर मरण-सागर की लहरें देख रही हूँ। मैं बहुत दूर निकल आई हूँ, विपिन बाबू! नहीं, अब नहीं। एक दिन मैंने तुम्हें अपना सब-कुछ दे डाला था। किन्तु तुमको उतने से संतोष नहीं हुआ। तुमने मेरा निरादर करके, मेरा अपमान करके, मुझे ठुकराकर मेरी बहन को पाने

का यत्न किया। उसे फुसलाकर अपना लिया, मैं देखती रही। मेरा प्राण रोता रहा और तुमने हँसकर उसे आलिंगन-पाश में बाँधकर मेरा तिरस्कार किया। (खाँसती है)

साधना—बहुत मत बोलो, जीजी!

मंदाकिनी—उसकी मृत्यु के बाद तुमने मेरी तरफ झाँका, मुझे अपनाने को घर के चक्कर लगाने शुरू किए, पत्र डाले, अनुनय-विनय की और आज तुम फिर मुझ अभागी से मिलने आए हो! नहीं, साधना, आज मुझे सब-कुछ कह लेने दो। वर्षों का गुबार मेरे हृदय में भरा हुआ है, मुझे निकाल लेने दो। प्राणों की एक-एक कड़ी में अटका हुआ तिक्तता, कटुता का विष बाहर उगल देने दो।

आगन्तुक—मैं भी सुनने आया हूँ। एक ही दिशा में बहने-वाली दो नदियों की धाराएँ कुहरे से पूर्ण हैं। वे एक-दूसरे को नहीं देख पातीं। उनका भ्रम, अविश्वास का कुहरा घट जाने दो, साधना! मेरा विश्वास है, मैं मंदाकिनी को प्रसन्न कर सकूंगा, उसके रोग को दूर कर सकूंगा।

साधना—मैं केवल यही चाहती हूँ कि तुम दोनों फिर विश्वास-दृढ़ता के साथ एक-दूसरे को पहचानो। जीजी, विपिन बाबू···मैं क्या कहूँ?

आगन्तुक—हम दोनों धीरे-धीरे स्वर्ग की सीढ़ियों पर चढ़ रहे थे। रजनीगंधा की भीनी सुरभि से आप्यायित हम दोनों की प्राण सुषमा मस्त होकर झूम उठी थी···

मंदाकिनी—कि इसी बीच उनमें से एक यात्री मालती की सुरभि में मस्त होकर ठिठक गया। उसने साथी को सीढ़ियों से नीचे धकेल नवीन लता का आलिंगन करके उसके साथ, नवीन उषा के साथ, फिर यात्रा प्रारम्भ कर दी। वह भूल गया, उस

में प्रेम नहीं, वासना थी ; हृदय नहीं, दुर्बलता की धड़कन थी; वास्तविकता नहीं, उसका आभास था। उसका स्वर्ग-स्वार्थ था, उसका सौन्दर्य वासना-जन्य था, उसकी आत्मा का शिव मिथ्या से अभिभूत था। वह प्रपंच था, (तीव्रता से) छल था, प्रवंचना थी, मिथ्यात्व था, अवास्तविक, धूमायित, स्वात्म-प्रतारक था। वह... वह...(लेट जाती है तथा बहन के चित्र की तरफ देखने लगती है) तू ही बता, क्या मैं झूठ कह रही हूँ ?

आगन्तुक—(खाट से उठ कर कुर्सी पर बैठता हुआ)—इसमें कुछ भी असत्य नहीं है, मंदाकिनी, काश कि तुम अपनी बहन के हृदय को पहचान सकतीं। इन्होंने मुझसे धीरे-धीरे कहना शुरू किया, बहन एक और व्यक्ति से प्रेम करने लगी हैं। उन्होंने कई बार कहा कि तुम उन्हें अच्छे नहीं लगते, तुम्हारी आदतों में बहुत बुरी आदत यह है कि तुम अनुचित प्रशंसा करते हो, झूठ बोलते हो। मुझे पहले इन बातों पर विश्वास नहीं हुआ। पर उस दिन जब मैं सायंकाल तुम्हारे पास आया, तो तुमने कहा—तुम्हें इस तरह नहीं आना चाहिए, तुम देख नहीं रहे कि मैं किसी सज्जन से बातें कर रही हूँ। और तुमने मुझे न बैठने को कहा, न प्रतीक्षा करने को ही। मैं बाहर निकला, उस समय तुम्हारी बहन ने कहा, देख लो, जो मैंने कहा, क्या झूठ है ?

मंदाकिनी—हाँ, झूठ है, सब झूठ है। उसी ने मुझसे कहा—विपिन बाबू कहते हैं कि मंदाकिनी मेरी दासी है, मैं उसे चाहे जैसे घुमा सकता हूँ। दासी शब्द मुझे बहुत अखरा। मैं किसी को अपना पति मान सकती हूँ, उसकी दासी नहीं बन सकती। इसके साथ ही तुम मेरे कमरे में आ गए और मेरे मुँह से ये शब्द निकल गए। इसके बाद बहन ने कहा—विपिन बाबू तुम्हें असभ्य, गँवार कह कर गए हैं। मेरे आत्माभिमान को ठेस लगी। मैंने इसके बाद एक सप्ताह तक न तुम्हें बुलाया, न

तुमसे मिली। तुम्हीं बताओ, इसमें मेरा क्या दोष है?

आगन्तुक—यह बात सर्वथा मिथ्या है कि मैंने तुम्हारे प्रति अपशब्द कहे। हाँ, कमला के दिए तुम्हारे संदेश ने मेरे हृदय को आघात पहुँचाया। फिर भी मैं प्रति दिन जाता रहा, तब कमला ने कहा—बहन तुमसे मिलना नहीं चाहतीं। तुम्हीं हो मूर्ख, जो उनके पीछे पड़े हो! फिर भी मैंने सुना अनसुना कर दिया। किन्तु तुमसे भेंट नहीं हो सकी।

मंदाकिनी—उन दिनों कालेज में पारितोषिक-वितरण की इञ्चार्ज होने के नाते मुझे रात के आठ-आठ बजे तक कालेज में रहना होता था। जब मैं घर आकर कमला से तुम्हारे आने के सम्बन्ध में पूछती, तो उत्तर मिलता—विपिन बाबू कहते हैं कि मैं ऐसी हज़ार स्त्रियों से विवाह कर सकता हूँ। (खाँसना) मुझे दुःख हुआ। पारितोषिक-वितरणोत्सव के बाद मैं एक दिन तुम्हारे घर जाने को तैयार हुई, तो कमला ने मुझे झिड़क दिया और कहा कि जीजी, तुम्हीं एक हो, जो निन्दा करने वाले के घर की ख़ाक छानती फिरती हो। मैं उसकी बातें सुन कर आग-बबूला हो गई। फिर जो मेरे मन में आया, मैं कहती रही। क्रोध और गुस्से के मारे उस रात खाना भी नहीं खाया। रात-भर कमरे में घूमती रही। एक बार मेरे जी में आया कि तुमसे प्रत्यक्ष मिल कर बातें करूँ। दूसरे दिन रात को दृढ़ निश्चय करके जब घर से निकली, तो तुम घर पर नहीं मिले। मैं एक सखी के साथ बाग़ की तरफ़ निकल गई वहाँ मैंने देखा, तुम एक स्त्री के साथ बैठे बातें कर रहे हो। पहले इच्छा हुई कि मैं तुमसे मिलूँ, किन्तु न जाने क्या सोच कर मैं सखी के साथ लौट आई। क्या तुम बता सकते हो, वह कौन थी? (खाँसना)

आगन्तुक—वह कमला थी। जब मेरे हृदय में तुम्हारी विरक्ति भरती जा रही थी, उस समय मैं बिलकुल पागल ह

रहा था। मैं तुम्हारे घर जाता तो कमला तुम्हारे द्वारा कहे हुए दो-एक दुर्वचन सुना देती। उस दिन वह स्वयं मेरे घर आई और उसने मुझसे सैर करने चलने का आग्रह किया। मैं व्यामूढ़-सा उसके साथ चल दिया। तुमने देखा होगा, मैं बिलकुल मूक था, वही कभी-कभी बोलती थी।

मंदाकिनी—मैंने दोनों को चुपचाप ही देखा। मुझे बड़ा धोखा हुआ, विपिन बाबू! भ्रमण से लौटने के बाद मैं पागल-सी हो गई। मैंने एकान्त में जाकर अपना सिर पीट डाला। तुम्हें अपशब्द कहे। सर्दी के दिनों में भी मेरा शरीर पसीने से तर हो रहा था। मैं छत पर घूमने लगी, (खाँसना) बराबर घूमती रही।

साधना—बस, अब चुप हो जाओ। विपिन बाबू, जीजी की तबीयत और भी खराब हो जायगी। अच्छा तो यह है कि...

आगन्तुक—भ्रम का फैलाव आकाश बेल के समान है, जिसकी जड़ नहीं होती। जैसे-जैसे भ्रान्ति फैलती है, विश्वास का वृक्ष, जिस पर वह फैलती है, सूखने लगता है।

मंदाकिनी—फिर भी विश्वास नहीं होता, मेरी ही बहन मुझे धोखा देगी। यदि तुम्हारे हृदय में वास्तविक प्रेम होता, मेरे प्रति ममता होती, तो कमला भी तुम्हें धोखा नहीं दे सकती थी, विपिन बाबू! उस समय मेरे हृदय में जो हाहाकार मचा, जो उत्क्रान्ति कर देने वाला हड़कम्प मचा, तूफ़ान के जो झोंके उठे, वे मेरा प्राण लेने को काफ़ी थे। उस समय भी मैं नहीं मरी; उस समय शंकर के तीसरे नेत्र ने मुझे भस्म नहीं किया, जब मैंने देखा, मेरी ही बहन मेरे प्राणों से खिलवाड़ करती हुई विलास कर रही है। उस दिन रात को तुम दोनों ने आर्य-समाज-मंदिर में जाकर विवाह भी कर लिया, तब तो...(सिसक-सिसककर रोने लगती है)।

साधना—शान्त हो, जीजी !

आगन्तुक—उसी का मुझे दुःख है, मंदाकिनी। मैं इतना विमूढ़ क्यों हो गया था? क्यों मैंने एक बार तुमसे मिलने की चेष्टा नहीं की? किन्तु मेरे यौवन ने मुझे अन्धा बना दिया था। मेरे अभिमान ने मुझे तर्कहीन, हृदयहीन, ज्ञानहीन, विवेकहीन कर डाला था। मुझे उसी समय विष खाकर मर जाना चाहिए था। हाय, मैंने क्यों जीवन धारण किया! मुझ नारकीय को यह दिन देखने से पूर्व...। यही मेरा सचमुच का अपराध था। मंदाकिनी, मैं सभी कुछ भोगने को तैयार हूँ। तुम मुझे दण्ड दो। तुम मुझे विष दो, मैं पी लूँगा। किन्तु मैं विवश था। मुझे समझाया गया कि मंदाकिनी मेरी शक्ल नहीं देखना चाहती। उसकी दृष्टि में मैं मनुष्य ही नहीं, पशु से भी गया-बीता हूँ। फिर किस बूते मैं तुमसे मिलता? इसीलिए मैंने आर्यसमाज-मन्दिर में जाकर कमला से विवाह कर लिया।

मंदाकिनी—उसके बाद कमला मुझे दिखाई नहीं दी। उस दिन जब मुझे ज्ञात हुआ कि कमला अस्पताल में भयानक रूप से बीमार है, उसके बचने की कोई आशा नहीं है, तभी मेरा गर्व विगलित हुआ और मैं अस्पताल गई। वहाँ जाकर देखा, कमला संज्ञाहीन बिस्तर पर पड़ी है; यह चित्र (बालक का) उसके सिर-हाने रखा हुआ है। मैं बहुत देर तक डाक्टरों की प्रतीक्षा करती बैठी रही। नर्सें चुप थीं। उन्होंने बताया, अवस्था अच्छी नहीं है। मैं रात-भर बैठी रही। जब तुम आए, तब मैं छिप गई।

आगन्तुक—क्यों?

मंदाकिनी—क्योंकि मैं तुमसे घृणा करती थी। और तुम्हें निरन्तर वहाँ बैठा समझ कर उल्टे पाँव लौट आई। घर आकर मैं रात-भर रोती रही। सबेरे फिर गई, किन्तु उस समय उसको वहाँ से हटा दिया गया था—वह मर चुकी थी। मैं अपनी एक

सखी के साथ श्मशान गई और दूर से उसकी चिता को नमस्कार करके चली आई।

आगन्तुक—मैंने श्मशान में तुम्हें देखा था।

मंदाकिनी—फिर भी तुम मुझसे नहीं मिले ?

आगन्तुक—वही तो, वही तो मुझे दुःख है कि उस समय मैं तुमसे क्यों नहीं मिला। किन्तु मैं उस समय इतना दुःखाभिभूत था कि मेरा विवेक ध्वस्त हो गया था। मैंने समझा तुम केवल अपनी बहन को देखने आई हो, अन्तिम बार उसकी चिता के दर्शन करने आई हो। यही सोच कर मैं तुमसे नहीं मिला।

मंदाकिनी—जाने दो उन बातों को, विपिन बाबू !

आगन्तुक—उसके बाद जब मैंने तुम्हारी सखी इला से सारा वृत्तान्त सुना, तभी से मेरा मन तुमसे मिलने को आतुर हो उठा। अब मैं चाहता हूँ, तुम भुआली चल कर रहो और मुझे प्रायश्चित्त-स्वरूप अपनी सेवा करने दो। नहीं तो मेरी आत्मा को इस जीवन में नहीं, जन्मजन्मान्तर में शान्ति नहीं मिलेगी। एक बार कह भी दो कि तुमने मेरा अपराध क्षमा कर दिया।

मंदाकिनी—व्यर्थ है, विपिन बाबू ! क्यों नहीं मेरी इस बहन साधना से...

साधना—क्या बक रही हो, जीजी !

मंदाकिनी—विपिन बाबू असंख्य सम्पत्ति के स्वामी हैं, साधना ! और मैं कितने दिन की हूँ ?

आगन्तुक—व्यंग्य मत करो, मंदाकिनी, मैं स्वयं अपने पापों से जल रहा हूँ। क्षमा दान करो, देवि ! मैं केवल तुम्हें चाहता हूँ। (झुक जाता है)

मंदाकिनी—मैं बीमार हूँ। मेरा सौन्दर्य भी नष्ट हो गया है।

आगन्तुक—काश, मैं तुम्हें अपना हृदय चीर कर दिखा पाता, मंदाकिनी ! क्या तुम मुझे क्षमा न करोगी ? मैं केवल तुम्हें

चाहता हूँ, प्रिये ! एक बार कहो, तुमने मुझे क्षमा कर दिया, और मुझे अपनी सेवा का अवसर दो। मेरी सारी सम्पत्ति तुम्हारे चरणों पर न्योछावर है।

मंदाकिनी--मुझे क्षय हो गया है। खाँसी में रक्त आता है। कभी रक्त वमन भी होता है। मैं निर्बल हूँ, असुन्दर हूँ, विपिन !

आगन्तुक—मुझे सब स्वीकार है। मैं तुम्हारी सेवा करूँगा। मैं वासना का भूखा नहीं हूँ, मंदाकिनी ! मुझे दृष्टिदान दो, प्रिये ! मैं अभी तुम्हारी यात्रा का प्रबन्ध करता हूँ। बोलो।

मंदाकिनी—मुर्दे को ढोकर क्या करोगे, विपिन बाबू ! मैं मुर्दा हूँ।

आगन्तुक—मैं उसे जीवित कर लूँगा, मंदाकिनी, तुम्हारे एक बार 'हाँ' करने-भर की देर है।

साधना—बहन, विपिन बाबू आदमी नहीं देवता हैं।

आगन्तुक—मेरे जीवन पर दया करो। मैं तुम्हें जीवन दूँगा। भरसक सुखी रखूँगा। तुम्हारे सुख में मेरा सुख है, मेरी शान्ति है, बोलो। एक बार कह दो। बस, कहने-भर की देर है। मैं डाक्टर को भी साथ ले चलूँगा, मंदाकिनी !

मंदाकिनी—मुझे विश्वास नहीं कि मैं अधिक दिन जीऊँगी, विपिन।

आगन्तुक—मुझे विश्वास है, मैं भविष्य के गर्भ में आलोकित सुख-राशि देख रहा हूँ, मंदाकिनी।

(मंदाकिनी चुप रहती है)

साधना—प्रस्ताव अनुचित नहीं है। डाक्टर कह रहे हैं, तुम ठीक हो जाओगी।

आगन्तुक—अभी कुछ भी नहीं बिगड़ा है, मंदाकिनी ! रात के नौ बजे गाड़ी जाती है।

मंदाकिनी—जीवन किसको प्रिय नहीं होता, विपिन बाबू ? तो चलूँ ?

आगन्तुक—हाँ, मंदाकिनी, प्राणवाही संतत स्वर तुम्हें जीवन के स्वर्ग की ओर पुकार रहा है। चलो, मैं अभी एम्बुलेंस का प्रबन्ध करता हूँ।

मंदाकिनी—दोपहर की लू में उड़ते हुए बगूलों में मेरी छाया हँसती देख पड़ रही है। परन्तु......

साधना—मैं स्वयं भुआली तक तुम्हारे साथ चलूँगी, जीजी!

मंदाकिनी—चलूँ, चलूँ तो क्या ? (चुप रहती है) ठहरो, मुझे सोच लेने दो।

आगन्तुक—मेरे हृदय के स्तर स्तर से विश्वास उठकर कह रहा है कि तुम ठीक हो जाओगी। तुम्हें कोई कष्ट न होगा, प्रिये! मैं एम्बूलेंस का प्रबन्ध करने जाता हूँ।

मंदाकिनी—(ध्यानस्थ-सी होकर) ठहरो! (चुपचाप बहन के चित्र की ओर देखती रहती है। देखती ही रहती है। कभी उसके चेहरे पर प्रकाश की मुस्कराहट आलोकित हो उठती है, फिर धीरे-धीरे विषाद की छाया उठती दिखाई देती है। तीन-चार सेकेण्ड तक सकपकेकी-सी हालत रहती है, फिर एकदम उसके चेहरे से दृढ़ता के चिह्न प्रतिलक्षित होने लगते हैं। फिर जैसे सागर में डूब गई हो, ऐसी तन्मयता हो जाती है दोनों व्यक्ति सकपकेकी हालत में साँस साधे उसकी चेष्टा देखते हैं। वह जैसे जाग उठती है।) बहन की आँखों में दया, करुणा की प्रश्नसूचक लहरें उठ रही हैं। मुझे बहन की आँखों में आँसू छलछलाते दिखाई देते हैं। चित्र के हृदय की धड़कन बढ़ रही है, देख नहीं रहे, विपिन बाबू!

आगन्तुक—यह तुम्हारी कल्पना का चित्र है, मंदाकिनी! जैसे बालक को अँधेरे में भूत दिखाई देता है, निर्जन अन्धकार

में कोने में मनुष्य खड़ा दिखाई देता है। तुम स्वस्थ होकर मेरी बात पर विचार करो। मैं झूठ नहीं कह रहा हूं। विश्वास करो, प्रिये! मेरे जीवन की नौका मेरे ही पाप के भँवर में डूबने जा रही है। मेरे विश्वासों की नीवें हिल उठी हैं, मेरी आस्था मुझे ही धोखा देने को उद्यत है। मुझे सहारा दो, मंदाकिनी, मुझे अपने पाप का प्रायश्चित करने दो। मैं डूब रहा हूँ, मुझे बचाओ।

साधना—शान्त हो, विपिन बाबू!

आगन्तुक—मुझे अवसर दो, प्रिये!

मंदाकिनी—अवसर दूँ! तुम्हारे जीवन की नौका को पापों के भँवर में डूबने से बचाऊँ! ठहरो, मुझे सोचने दो।

आगन्तुक—हाँ, मंदाकिनी!

साधना—हाँ, जीजी! विपिन बाबू पर दया करो। इसी में तुम्हारा भी कल्याण है।

मंदाकिनी—(ध्यानमग्न हो जाती है। जैसे विचारों के गहरे सागर में डूब गई हो; जैसे तर्क-वितर्क, संकल्प-विकल्प, अन्धकार और प्रकाश के दोनों छोर उसे दिखाई दे रहे हो; जैसे एक बाल के हेर-फेर से किनारे की नौका इधर-उधर हो रही हो। वह सोचती है, सोचती ही रहती है। एकदम)—नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं नहीं जाऊँगी। तुम जाओ, विपिन बाबू, अब यहाँ कभी मत आना। जाओ! मुझमें दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष की तहों पर उठी हुई जीवन की नींवों पर अब प्रासाद खड़े करने का साहस नहीं है। कुहेलिका में सोते हुए धूमिल स्वप्नों को उत्तरंग होकर तुम्हारे प्रकाश से छिन्न-भिन्न करने की अभिलाषा नहीं है। तिल-तिल करके बढ़ती हुई दावाग्नि को एक चुल्लू पानी डालकर बुझाने की आकांक्षा नहीं है। मैं तिल-तिल कर प्राणों की धड़कन को घुटने का तिक्त आवाहन दे चुकी हूँ। मुझे जाने दो, मुझे सहने दो

यह व्यथा। बहन कमला के लिए, मेरे लिए, अपने लिए मुझे मेरी दशा पर छोड़ दो। जाओ, जाओ-ऽ-ऽ-ऽ।

(खाट पर गिर पड़ती है, नेपथ्य में भयंकर स्वर गूँज उठता है। विपिन पराजित-सा चुप-चाप उठकर चल देता है। साधना जड़-मूक की तरह देखती रहती है। दूर तक साधना की आवाज़ गूंजती रहती है—गूँजती रहती है—विपिन बाबू...... !)

श्री सेठ गोविन्द दास

श्री सेठ गोविन्द दास के नाटकों पर गांधी युग की राजनीति और भावनाओं की छाप है। यह राजनैतिक कार्यकर्ता हैं इसलिए इन्होंने अधिकांशतयः राजनैतिक और ऐतिहासिक एकांकी ही लिखे हैं। इनकी हिन्दी-एकांकी-साहित्य में सबसे बड़ी देन है एक-पात्री (मोनोड्रामा) एकांकी नाटक। यह अपनी रचनाओं में हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थन करते हैं और अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में यह यथार्थोन्मुख आदर्शवाद का पालन करते हैं। इन्होंने प्राचीन नाट्य-कला की शास्त्रीय-पद्धतियों के विपरीत हिन्दी में प्रकार-वैचित्र्य की सृष्टि की है।

आजकल यह विधान-परिषद के सदस्य हैं और अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन के सभापति हैं। इनके एकांकी है सप्त-रश्मि, एकादशी और पंचभूत। इनकी भाषा भी विषयानुकूल और पात्रानुरूप होती है।

हमारे प्राचीन यज्ञों की भांति 'कृषि-यज्ञ' भी एक आवश्यक यज्ञ है। वे यज्ञ देवताओं की पाठ-पूजा के लिए होते थे किन्तु 'कृषि-यज्ञ' मानव-देवता की पेट-पूजा के लिए परमावश्यक है। सेठ गोविन्द दास जी ने पौराणिक कथा के आधार पर आधुनिक-युग की प्रधान समस्या की ओर संकेत किया है और यह सच है कि 'कृषि-यज्ञ' के प्रोत्साहन से ही राष्ट्र-देवता की क्षुधा शान्त की जा सकती है।

कृषि-यज्ञ भावपूर्ण पौराणिक एकांकी है।

पात्र

मुख्य पात्र राम—प्रसिद्ध मर्यादापुरुषोत्तम; लक्ष्मण, भरत शत्रुघ्न-उनके भाई; सीता—राम की पत्नी; त्रिजट—एक ब्राह्मण, सुकेशनी त्रिजट की पत्नी; यज्ञदत्त, वररुचि—त्रिजट के सहपाठी ब्राह्मण।

स्थान—अयोध्या, उसका सरयू तट और समीपवर्ती वनस्थली।

समय—त्रेतायुग।

कृषि-यज्ञ*

उपक्रम

स्थान—अयोध्या का सरयूतट। समय—संध्या।

[बाईं ओर दूर पर अयोध्या के भवनों के बाहरी भाग दिखाई देते हैं। दाहिनी ओर सरयू बह रही है। अस्त होते हुए सूर्य के सुनहरी प्रकाश से सारा दृश्य आलोकित है। त्रिजट, यज्ञदत्त और वररुचि सरयू के पुलिन पर बैठे हुए बातें कर रहे हैं। तीनों की अवस्था लगभग २५ वर्ष की है। त्रिजट गेहुएँ वर्ण का कुछ ऊँचा और दुबला-पतला व्यक्ति है। यज्ञदत्त का वर्ण गौर है वह कुछ ठिगना और मोटा-सा है। वररुचि श्याम वर्ण का है, न बहुत ऊँचा और न ठिगना, न बहुत मोटा और न दुबला। तीनों ब्रह्मचारियों के वेष में हैं। सिर के तथा दाढ़ी-मूछों के काले बाल ब्रह्मचर्याश्रम में क्षौर न होने के कारण लम्बे हो गए हैं]

यज्ञदत्त—आश्चर्य से त्रिजट की ओर देखते हुए) कृषि ! कृषि ! ...त्रिजट, तुम कृषि करोगे, इसीलिए साङ्गोपाङ्ग वेद का अध्ययन करके वेदवेत्ता हुए हो ? इसीलिए इतिहास और पुराण पढ़े हैं ?

वररुचि—और साधारण वेद-वेदांग-वेत्ता नहीं, अवध के सर्वश्रेष्ठ गुरुकुल के सर्वोत्तम विद्यार्थी !

यज्ञदत्त—हाँ, सर्वश्रेष्ठ गुरुकुल के सर्वोत्तम विद्यार्थी ! कल हमारा ब्रह्मचर्य समाप्त होकर समावर्तन संस्कार होगा और आज यह कृषि करने का निर्णय !

---

* रामायण की एक कथा के आधार पर

वररुचि—अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह—ब्राह्मणों के छः कर्मों को छोड़कर निकृष्ट कर्म कृषि करने की तुम्हारी रुचि कैसे हुई ?

त्रिजट—कृषि को तुम निकृष्ट कर्म मानते हो ?

वररुचि—इसमें भी कोई सन्देह है ? आपद्धर्म के रूप में ब्राह्मण क्षत्रिय का कर्म तो कर भी सकता है, परन्तु कृषि तो वैश्यों का कर्म है। ब्राह्मण के लिए कृषि निकृष्ट नहीं तो और क्या है ?

त्रिजट—मैं उसे इस समय का सर्वश्रेष्ठ यज्ञ मानता हूँ।

यज्ञदत्त—कृषि यज्ञ !

वररुचि—आश्चर्य की बात कहते हो !

त्रिजट—यदि यज्ञ का ठीक अर्थ समझ लो तो मेरी बात पर आश्चर्य न होगा।

यज्ञदत्त—यज्ञ का अर्थ यज्ञ है; उसका और क्या अर्थ हो सकता है ?

त्रिजट—यज्ञ शब्द यज् धातु से निकला है; यज् धातु का अर्थ है अर्पण करना।

यज्ञदत्त—तुम्हारा सहपाठी होने पर क्या मैं इतना भी नहीं जानता ?

त्रिजट—नहीं-नहीं; परन्तु, यज्ञदत्त, क्या अर्पण करना, किसे अर्पण करना, यह प्रश्न है न। मैं यज्ञ अर्पण की उस कृति को मानता हूँ जो कोई व्यक्ति या समूह समाज के हित के लिए करता है। समय-समय पर समाज की आवश्यकताएँ परिवर्तित होती रहती हैं, अतः यज्ञ के प्रकार भी। इस समय मानव-समाज के लिए सबसे आवश्यक कृषि है अतः कृषि-यज्ञ ही इस समय का सबसे श्रेष्ठ यज्ञ है।······यह यज्ञ ब्राह्मण न करेगा

तो कौन करेगा ? इस देश में नए-नए कार्यों को ब्राह्मणों ने ही किया है तथा उन्हें उत्तेजना दी है। हाँ यदि ब्राह्मण स्वयं धनवान् बनने के लिए या किसी भी प्रकार के स्वार्थ से इन कामों को करे तो वह पतित हो जायगा। मैं कृषियज्ञ करूँगा, समाज के हित के लिए। मैं कृषि-सम्बन्धी प्रयोग कर नए-नए आविष्कार करूँगा और अपने आविष्कारों को यज्ञरूप से समाज के अर्पण कर दूँगा।

यज्ञदत्त—(विचारते हुए) परन्तु जहाँ तुमने हल जोतना आरम्भ किया कि इतने महान् विद्वान् और चरित्रवान् होने पर भी पतित, पतित ब्राह्मण समझे जाने लगोगे।

वररुचि—हाँ, समाज की रुचि ही ऐसी है।

त्रिजट—तो उस रुचि को ठीक करना होगा। वह भी तो ब्राह्मण का ही कर्तव्य है।

[यज्ञदत्त और वररुचि मस्तक झुकाकर कुछ सोचने लगते हैं। त्रिजट उनकी ओर देखता है।]

यवनिका

पहिला दृश्य

स्थान—अयोध्या के निकट एक वनस्थली में त्रिजट के गृह का अलिन्द। समय—प्रातःकाल।

[बाईं ओर छोटे से अलिन्द का कुछ भाग दिखाई देता है और दाहिनी ओर दूर तक वन तथा उसके बीच-बीच में अन्न से बोई हुई हरित भूमि। अलिन्द का घर टेढ़े-मेढ़े गाँठोंवाले काष्ठ-स्तम्भों पर है। छावनी तृण और पत्रों की है। पीछे अलिन्द की मृत्तिका की भित्ति है जिसमें छोटे-छोटे कुछ द्वार हैं। इन द्वारों से भीतर के छोटे-छोटे कक्षों के कुछ भाग दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि कक्ष स्वच्छ हैं, तथापि उनमें जो वस्तुएँ दिखती हैं, जैसे—खाट, पीठ, पात्र आदि, वे टूटी-फूटी तथा

टेढ़ी-मेढ़ी हैं। अलिन्द और कक्षों की धरती गोबर से लिपी है। सबसे निकट के कक्ष में मृत्तिका के कई घर दृष्टिगोचर होते हैं। सारे दृश्य से दरिद्रता टपकी-सी पड़ती है। त्रिजट सबसे निकटवाले कक्ष के द्वार के पास अलिन्द में बैठा है। उसके सामने यव, तिल और तण्डुल के छोटे-छोटे ढेर लगे हैं और वह यव के कुछ कणों को हथेली पर लिए ध्यानपूर्वक देख रहा है। त्रिजट की अवस्था अब ५० वर्ष के लगभग जान पड़ती है। नेत्रों के चारों ओर कुछ श्यामता आ गई है और मुख तथा शरीर पर सूर्य के आतप के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। शेष शिखा को छोड़ उसके सिर के केश अब छोटे-छोटे हैं, पर दाढ़ी-मूछें अब भी लम्बी हैं। सिर, दाढ़ी, मूछों और तनूरुहों के केशों में आधे के लगभग श्वेत हो गए हैं। शरीर में वह वैसा ही दुर्बल है। बाएँ स्कन्ध पर मोटा यज्ञोपवीत है। वह केवल अधोवस्त्र धारण किए हैं जो स्वच्छ होने पर भी यत्र-तत्र फट गया है। सुकेशनी उसके निकट ही बैठी है। उसकी अवस्था लगभग ४० वर्ष की है। शरीर पर फटी हुई साड़ी है। मुख पर अधिक श्रम के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं।]

सुकेशनी—हाँ, छोड़िए, इस समय छोड़िए, नाथ, बीज-परीक्षा। कृषि के ये भिन्न-भिन्न प्रयोग तो दो युगों से हो रहे हैं।

त्रिजट—और तुम भी यही समझती हो कि मुझे चौबीस वर्षों में कोई सफलता नहीं मिली। (यव के कणों को दिखाते हुए) इस प्रकार के यव पहले अवध क्या, कहीं भी उत्पन्न नहीं होते थे; (यवों को ढेर में डाल, तिलों को उठाते हुए) न ऐसे तिल (तिलों को ढेर में डाल, तण्डुलों को उठाते हुए) और न ऐसे तण्डुल। बीज ही सुधरा है, यह बात नहीं; उत्पत्ति कितनी बढ़ी है। कितने प्रकार के खाद्यों का उपयोग होने लगा है। और भी कृषि में......

सुकेशनी—पर हम तो दरिद्री ही रहे। हम तो आहार और

बीज को छोड़ अपनी उत्पत्ति की वस्तुएँ विक्रय भी नहीं कर सकते। आहार के योग्य धान्य रख शेष आप बाँट देते हैं।

त्रिजट—हाँ, क्योंकि मेरा उद्देश्य व्यापार कर धनवान् बनना नहीं, समाज के लिए यज्ञ करना है।

सुकेशनी—क्षमा कीजिए, नाथ, इस यज्ञ ने हमें निर्धन रक्खा। इतना ही नहीं, हमें क्षत-वृत्ति बना दिया है।

त्रिजट—यह समाज की नासमझी के कारण, जो कभी न कभी दूर होकर रहेगी।

सुकेशनी—दो युगों में तो दूर हुई नहीं। भला हलग्राही ब्राह्मण को कौन यज्ञ के सातों प्रधान कर्मों के लिए होता, पोता, ऋत्विज नेष्टा, प्रशास्ता, अध्वर्यु या ब्रह्मा बनाएगा? कौन उससे अनुष्ठान, श्राद्ध, तर्पण इत्यादि कराएगा? कौन उसे दान देगा?

त्रिजट—कभी न कभी समाज के मत में परिवर्तन होगा।

सुकेशनी—यदि आप ऐसा मानते हैं तो भी उसके लिए आज से अधिक उपयुक्त अवसर न आएगा। राम वन को जाते हुए अपनी व्यक्तिगत सारी सम्पत्ति दान कर रहे हैं, इसी लिए इतनी देर से कह रही हूँ कि छोड़िए इस समय इस बीज-परीक्षा को और अयोध्या जाइए। कदाचित् आपको भी दान में इतना मिल जाए कि आजीवन हम और हमारी सन्तति बिना कुछ किए बैठे-बैठे सुख से खाया करें।

त्रिजट—इसी से तो सोच रहा हूँ कि जाना उपयुक्त होगा या नहीं। बिना कुछ किए बैठे-बैठे खाने से बुरा जीवन और कोई हो सकता है?

सुकेशनी—(अप्रसन्नता से) परिश्रम कर जो उत्पन्न करें वह स्वयं के उपयोग में न लाएँ।......

त्रिजट—(बीच ही में) उपयोग में तो लाता हूँ, पर उतना ही, जितना नितान्त आवश्यक है।

सुकेशनी—(और भी अप्रसन्नता से) तो हम क्षत-वृत्ति नहीं ?

त्रिजट—यदि हम आवश्यकताओं को और घटा लें तो क्षतवृत्ति न रहेंगे।

सुकेशनी—(अब दुःख से) नाथ...नाथ, मैंने तो सदा आपकी आज्ञा का अक्षरशः पालन किया है। हमारी आवश्यकताएँ क्या बहुत अधिक हैं ? परन्तु हमारे बच्चे... ..वे बच्चे (नेत्रों में आँसू भरकर) नाथ, उनकी......उनकी ओर भी देखना आपके किसी-न किसी धर्म के अन्तर्गत तो आता ही होगा । (दीर्घ निश्वास मुख से निकलता है ।]

[त्रिजट—सिर झुकाकर कुछ सोचने लगता है। सुकेशनी त्रिजट की ओर देखती है। कुछ देर निस्तब्धता।]

त्रिजट—अच्छा, प्रिये, जाता हूँ, राम से दान माँगूँगा; यदि उन्होंने भी इस समय के समाज की भावना के अनुसार हल-ग्राही ब्राह्मण को कुछ न दिया तब तो वर्तमान परिस्थिति ही चलती रहेगी। पर यदि उन्होंने कुछ दिया तो...तो भी आजीवन हम और हमारी सन्तति बैठे-बैठे सुख से खाया करें, यह न होगा; क्योंकि अकर्मण्य जीवन मैं निकृष्ट मानता हूँ। राम से दान प्राप्त भी हो गया तो उसका ठीक उपयोग करना होगा।

सुकेशनी—(निराशा से) वह भी अपने श्रम की उपज के सदृश बाँट दिया जायगा।

त्रिजट—अपनी उपज मैं यों ही नहीं बाँटता, सुकेशनी, उचित पात्रों को देता हूँ। जो उस उपज से अपनी उपज सुधारें, उसे बढ़ाएँ। राम मुझे दान में क्या देते हैं, यह देखने के पश्चात उसके उपयोग का निश्चय होगा।

[त्रिजट कक्ष में जाकर अपना उत्तरीय और दण्ड लेकर बाहर आता है तथा दाहिनी ओर जाता है। सुकेशनी चुपचाप जिधर वह गया है, उधर देखती रहती है।]

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या के राजभवन में राम का प्रासाद। समय—मध्याह्न।

[दाहिनी ओर अलिन्द; बाँईं ओर दूर पर बहती हुई सरयू और बीच में चैत्य का कुछ भाग दिखाई देता है। चैत्य के पीछे राजभवन के कक्षों की भीतरी भित्ति दिखाई देती है। भित्ति में कुछ खिड़कियाँ हैं जो खुली हैं और जिनमें से सजे हुए कक्षों के कुछ भाग दिखाते हैं। चैत्य की धरती श्वेत और श्याम पाषाणों से पटी है। अलिन्द की छत ऊँचे और स्थूल पाषाण के स्तम्भों पर स्थित है। इन स्तम्भों की चौकियों और भरणियों के पाषाणों पर खुदाव का काम है। चौकियाँ कमलाकार हैं और भरणियों के दोनों ओर गजमुख हैं। गजों की शुण्डें ऊपर उठकर छत को छू रही हैं। अलिन्द के पीछे की भित्ति पर सुन्दर चित्रकारी है। चित्र रघुवंश की अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के हैं। कहीं दिलीप गऊ की सेवा कर रहे हैं; कहीं उसी गऊ को सिंह दबाए हुए दिखता है और दिलीप तथा सिंह का सम्भाषण चल रहा है; कहीं स्वयंवर में इन्दुमती अज को वरमाला पहना रही है; कहीं रघु का दिग्विजय-प्रस्थान हो रहा है। कहीं रघु का युद्ध, कहीं रघु का यज्ञ, कहीं रघु के सर्वस्व दान और कहीं इस दान के पश्चात् मृत्तिका के पात्रों को सम्मुख रखे हुए रघु स्नातक कौत्स का अर्घ्य से सत्कार कर रहे हैं, ये दृश्य चित्रित हैं। अलिन्द की छत पर भी चित्रकारी है और उससे झूमरें आदि कई सजावट की वस्तुएँ झूल रही हैं। अलिन्द की धरती पर रंग-बिरंगे पाषाण पटे हैं, जो बड़ी व्यवस्था से पाटे गए हैं। चारों ओर पाषाण के ही बेलबूटे तथा बीच में फूल इत्यादि बने हैं। अलिन्द की धरती पर बैठने की गद्दी, तकियों से युक्त चौकियाँ तथा कई प्रकार की सजावट की वस्तुएँ हैं। अलिन्द में राम, सीता और लक्ष्मण खड़े हैं। इनके सामने एक ओर त्रिजट, यज्ञदत्त और वररुचि हैं। राम और लक्ष्मण ने वन-प्रस्थान के लिए राजसी वेष को

त्याग वल्कल पहन लिए हैं। सीता अपनी राजसी वेष-भूषा में ही हैं। यज्ञदत्त और वररुचि की अवस्था प्रौढ़ता को पार कर चुकी है। उनके केश यत्र-तत्र श्वेत हो गए हैं। वे रेशमी अधोवस्त्र और उत्तरीय धारण किए हैं। दान में मिला हुआ बहुत-सा सुवर्ण दोनों के निकट रक्खा है। चैत्य में ब्राह्मणों की भीड़ दिख पड़ती है जो दान में मिली हुई अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को सँभाल रहे हैं।]

यज्ञदत्त—हाँ, राजपुत्र, हम तीनों सहपाठी थे।

वररुचि—अवध के सर्वश्रेष्ठ गुरुकुल में पढ़े थे।

यज्ञदत्त—और (त्रिजट की ओर संकेत कर) ये त्रिजट उस गुरुकुल के सर्वोत्तम विद्यार्थी थे।

राम—अच्छा।

वररुचि—परन्तु समावर्तन संस्कार के एक दिन पूर्व इन्होंने कृषि करने का निश्चय किया।

यज्ञदत्त—ये विद्वान् हैं। पर हलग्राही पतित ब्राह्मण दान के अधिकारी नहीं।

वररुचि—हाँ राजपुत्र, इन्होंने ब्राह्मणों के छहों श्रेष्ठ कर्मों को त्याग निकृष्ट वैश्य-वृत्ति ग्रहण की है।

राम—(त्रिजट से) कहिए, आर्य।

त्रिजट—मैं इसीलिए चुप था, राजपुत्र, कि मेरे सहपाठी यज्ञदत्त और वररुचि मेरे विरुद्ध जो-जो कहना चाहें सब कह लें; तब मैं सब बातों का एक साथ उत्तर दे दूँगा। पहले इनसे पूछ लीजिये कि इन्हें और कुछ कहना है।

राम—(यज्ञदत्त और वररुचि से) बोलिये, द्विजश्रेष्ठ !

यज्ञदत्त—हम त्रिजट के विरुद्ध कुछ भी कहना नहीं चाहते। हमारा उद्देश्य केवल इतना ही है कि चौदह वर्ष के लिये वन-गमन के अवसर पर दिया गया आपका यह सर्वस्व दान

सत्पात्रों को ही मिले, जिससे आपका कल्याण हो। हमने आपको सच्ची वस्तु-स्थिति से परिचित करा दिया; अब हमें कुछ नहीं कहना है।

वररुचि—(त्रिजट की ओर संकेत कर) और आप इन्हीं से पूछ लें कि हमने जो कहा है वह सत्य है या मिथ्या।

[राम कुछ न कह प्रश्न-सूचक दृष्टि से त्रिजट की ओर देखते हैं।]

त्रिजट—राजपुत्र, मुझे अपने गुरुकुल का सर्वोत्तम विद्यार्थी बताकर चाहे मेरे दोनों सहपाठियों ने निष्पक्ष बात न कही हो, परन्तु मैं हलग्राही ब्राह्मण हूं, यह सर्वथा सत्य है। समावर्तन के पश्चात् मैंने कृषि करने का निर्णय किया और गत चौबीस वर्ष से मैं कृषि ही कर रहा हूं, यह भी सत्य है। परन्तु कृषि को मैं नीच वृत्ति और वैश्यों की ही वृत्ति नहीं मानता।

लक्ष्मण—तब ?

त्रिजट—ऋग्वेद में कृषि करने की सभी को आज्ञा है, वह केवल वैश्य करें यह ऋग्वेद नहीं कहता। साथ ही ऋग्वेद उसे सर्वश्रेष्ठ वृत्ति बताता है। उसमें चाहे अन्य वृत्तियों के समान बहुत बड़ा लाभ न हो, पर लाभ निश्चित् है, अतः उसमें अन्य वृत्तियों के समान द्यूत नहीं। ऋग्वेद का कथन है—

'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः'।

राम—हाँ, इस वाक्य से 'वह वैश्यों की ही वृत्ति है', ऐसा सिद्ध नहीं होता। कोई वर्ण उसे कर सकता है।

त्रिजट—फिर, राजपुत्र, मैंने तो उसे समाज के लाभ के लिए यज्ञ-रूप से किया है।

लक्ष्मण—कृषि यज्ञ-रूप से ?

त्रिजट—हाँ, राजपुत्र, यज्ञ-रूप से।

लक्ष्मण—यह कैसे, आर्य ?

त्रिजट—यज्ञ शब्द यज् धातु से निकला है। आपको यह बताने की आवश्यकता नहीं कि यज्ञ का अर्थ है अर्पण करना। अतः समाज के हित के लिये जो कुछ भी अर्पण किया जाता है, वह यज्ञ है। समाज की आवश्यकताएँ समय-समय पर परिवर्तित होने के कारण यज्ञ के प्रकारों में भी परिवर्तन होने चाहिएँ। जिस यज्ञ में समिधा काष्ठ का अग्नि में हवन होता है उसका आरम्भ इसलिए हुआ था कि उस समय पृथ्वी वनों से परिपूर्ण थी। वनों को काटकर वन-काष्ठ भस्म करने पर ही पृथ्वी निवास तथा अन्य उपयोगों के लिए प्राप्त हो सकती थी। समिधा के साथ घृत और तिल आदि वस्तुएं तो आहुति में इसलिए डाली जाती हैं जिससे समिधा शीघ्र भस्म हो सके।

सीता—और अब इस यज्ञ की आवश्यकता नहीं रह गई ?

त्रिजट—नहीं, राजवधू, आज भी इसकी आवश्यकता है, क्योंकि अभी वन आवश्यकता से अधिक हैं। परन्तु जन-संख्या बढ़ रही है; अतः इसी के साथ अब कृषियज्ञ की भी आवश्यकता है।

लक्ष्मण—ऐसा क्यों ?

त्रिजट—क्योंकि मनुष्य शनैःशनैः मांसाहार छोड़कर अन्नाहारी होता जाता है। उसकी पाशविकता नष्ट होने के लिये यह आवश्यक भी है। वनों के काटने का कार्य मानवों के साथ मिलकर देवों तक ने किया। इसका भी ऋग्वेद में उल्लेख है। देव परशु ले लेकर पृथ्वी पर आए और उन्होंने वनों को काटा, यह ऋग्वेद में स्पष्ट लिखा है। ऋग्वेद का वाक्य है—'देवासः आयन् परशून् आजिघ्नन् वना वृश्चन्तो अभिविड्भिरायत'। उस समय की आवश्यकता के अनुसार यदि परशु ग्रहण करना पतित कर्म न

था तो इस समय की आवश्यकता के अनुसार हल ग्रहण करना पतित कर्म कैसे हो सकता है ?

[राम यज्ञदत्त और वररुचि की ओर देखते हैं। दोनों कुछ न कहकर एक दूसरे की ओर देखने लगते हैं। सीता और लक्ष्मण कभी राम, कभी त्रिजट और कभी यज्ञदत्त और वररुचि की ओर देखते हैं। कुछ देर निस्तब्धता।]

त्रिजट—फिर, राजपुत्र, मैंने कृषि समाज-सेवा के लिए यज्ञ-रूप से की है। और वह भी ऐसे वन्य-प्रदेशों में, जिससे कृषि वृत्ति वालों से मेरी कोई प्रतिस्पर्द्धा न हो। इतना ही नहीं, ऊसर भूमि को जोत-जोतकर मैं उर्वरा बनाता हूँ और इस राज्य की भी सेवा कर रहा हूँ। और ऐसी पृथ्वी से भी जो कुछ मैं उत्पन्न करता हूँ, उसे बेचता नहीं। आहार तथा बीज के लिये पर्याप्त धान्य रख शेष को मैं योग्य पात्रों में वितरण कर देता हूँ। मैंने अनेक प्रयोगों को कर बीज सुधारा है। नाना प्रकार के खाद्य बनाए हैं। और भी कृषि-सुधार के लिए न जाने कितनी योजनाएँ तैयार की हैं। मेरे इस प्रकार के वितरण से न जाने कितने कृषकों का बीज सुधरा है। मेरे बताये हुए खाद्यों से बहुत से कृषकों की उपज बढ़ी है। ये बातें कहाँ तक सत्य हैं, यह आप आर्य यज्ञदत्त और आर्य वररुचि से भी पूछ सकते हैं।

[राम—कुछ न कह प्रश्न-सूचक दृष्टि से यज्ञदत्त और वररुचि की ओर देखते हैं।

यज्ञदत्त—हाँ, यह तो सत्य है।

वररुचि—मैं भी मानता हूँ कि सच है।

सीता—और ऐसा यज्ञ करनेवाला ब्राह्मण भी पतित माना जाता है ?

त्रिजट—राजवधू, मैं प्रचलित यज्ञों में निमंत्रित नहीं किया जाता; कोई मुझसे अनुष्ठान नहीं कराते; श्राद्ध नहीं, तर्पण नहीं;

कोई मुझे दान नहीं देता।

यज्ञदत्त—हम विवाद में तो त्रिजट से नहीं जीत सकते, परन्तु इसमें हमें सन्देह नहीं है कि इनका ब्रह्मतेज हल ग्रहण करने से नष्ट हो गया है।

वररुचि—इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता।

त्रिजट—मुझमें ब्रह्मतेज है इसकी तो मैं परीक्षा दे सकता हूं।

राम—(विचारते हुए) आर्य, आप ऐसे समय पधारे जब मैं सब कुछ दान कर चुका हूं।

सीता—किन्तु, आर्यपुत्र, यदि आप इन्हें दान देने का निर्णय करें तो मैं अपने सारे आभूषण इन्हें दान में दे दूंगी।

त्रिजट—यह दान तो मुझे स्वीकृत न होगा। दान लेनेवाले को सदा यह विचारना चाहिये कि वह दान किससे लेता है और किस वस्तु का।

राम—(विचारते हुए) देखिए, मेरे पास केवल एक वस्तु दान के लिये शेष है।

त्रिजट—कौन-सी, राजपुत्र ?

राम—मेरी सहस्र गाएं।

त्रिजट—(अत्यन्त प्रसन्नता में) आहा ! वे तो मेरे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होंगी। यदि मुझे ऐसा गोधन मिल जाय तब तो मेरा कृषियज्ञ......

यज्ञदत्त—(बीच ही में) राजपुत्र, ये कभी सहस्र धेनुओं की संभाल कर सकते हैं ? उन गायों में से अधिकांश मर जाएंगी; आपको गो हत्या लगेगी।

वररुचि—हाँ, हाँ।

राम—(विचारते हुए त्रिजट से) देखिए, आर्य, मैं आपको पवित्र ब्राह्मण तो नहीं मानता और न दान के अयोग्य ही। पर

इस समय मैं गोदान ही दे सकता हूँ; साथ ही में उतनी ही गाएं आपको दूँगा, जितनी की आप सम्भाल और सेवा कर सकें।

त्रिजट—मैं सहस्र गायों की सेवा-सम्भाल कर सकता हूँ।

राम—इसके लिए मैं प्रमाण चाहूंगा।

त्रिजट—जो प्रमाण आप चाहें मैं देने को प्रस्तुत हूं।

[राम विचारमग्न हो जाते हैं। सब उत्सुकता से एकटक राम की ओर देखते हैं। कुछ देर निस्तब्धता।]

राम—आपमें कितनी गाएं रखने की शक्ति है, यह जानने के लिए मैं चाहूंगा कि आप अपने दण्ड को फेकें। जितनी दूर जाकर आपका दण्ड गिरेगा, उतने स्थान में जितनी गाएं खड़ी हो सकती हैं, उतनी मैं आपको दे दूंगा।

त्रिजट—बहुत अच्छा। (अपने दण्ड को संभाल कोई ओर दूर पर सरयू के प्रवाह को देख, फिर दण्ड को देखते हुए) मेरा शरीर कृश है, शारीरिक बल से ही यदि तुझे फेंकूं तब तो तू चैत्य में ही गिर पड़ेगा; परन्तु...परन्तु यदि मेरी आत्मा में बल है, यदि मैंने दो युगों से कृषि मनसा-वाचा-कर्मणा सच्चे यज्ञ रूप से की है, यदि मेरा ब्रह्मतेज नष्ट न होकर बढ़ा है, यदि मैंने अपने धर्म का यथार्थ पालन किया है, तो...तो तू; हे दण्ड! सरयू के इस पार नहीं, उस पार गिरना।

(कुछ देर त्रिजट एकटक दण्ड को देखता रहता है। राम को छोड़ सब लोग कुछ भौंचक से त्रिजट को देखते हैं। त्रिजट सरयू की ओर दण्ड को फेंकता है। दण्ड आकाश-मार्ग से जाता हुआ दिखता है। राम को छोड़ शेष व्यक्तियों के आश्चर्य की सीमा नहीं रहती जो उनकी मुद्राओं से व्यंजित होता है।)

त्रिजट—(राम से) राजपुत्र, भेजिए किसी को सरयू के उस पार। वह देख आए कि मेरा दण्ड सरयू के उस पार पहुँचा या नहीं।

राम—द्विजवर्य, जिस वेग से वह दण्ड गया है, उससे इसमें सन्देह ही नहीं रह जाता कि वह सरयू के उस पार पहुँच गया होगा। एक सरयू क्या, यदि आपने आज्ञा दी होती तो वह न जाने कितनी सरयू को पार कर सकता था। जिसने अपने धर्म का यथार्थ पालन किया है, वह विश्व में क्या नहीं कर सकता ? क्षमा किजिए, मैंने आपकी इस प्रकार परीक्षा ली। सहस्र गाएँ आपकी भेंट हैं।

यज्ञदत्त—(त्रिजट को आलिंगन कर गद्‌गद स्वर से) मैंने अपने सहपाठी को आज पहचाना। मुझे जो स्वर्ण राजपुत्र से मिला है, मैं तुम्हें भेंट करता हूं।

वररुचि—(त्रिजट को आलिंगन कर गद्‌गद स्वर से) और मैंने भी तुम्हें आज ही जाना। राजपुत्र ने जो सुवर्ण मुझे दिया है, वह भी मैं तुम्हें भेंट में देता हूँ।

त्रिजट—मित्रवर्य, मैं सुवर्ण का क्या करूँगा ? गउएँ तो मेरे उपयोग की वस्तु हैं।

यज्ञदत्त—(विचारते हुए) देखो, इन गायों और इस सुवर्ण से अब हम तीनों उस कृषियज्ञ को बढ़ाएँगे, जो तुम कर रहे हो।

वररुचि—हाँ, हाँ, यह...ठीक है।

त्रिजट—मैं एकाकी था। ऐसे साथियों और ऐसे साधनों को पाकर मैं धन्य हुआ। (राम से) राजपुत्र, जब चौदह वर्षों के उपरान्त आप लौटेंगे तब तक यदि जीवित रहा तो आपको अपने कृषियज्ञ की प्रगति दिखाऊँगा।

लघु यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या के निकट की वनस्थली में त्रिजट के गृह का अलिन्द।

समय—सन्ध्या।

[दृश्य वैसा ही है, जैसा पहले दृश्य में था। सुकेशनी इधर-उधर घूम रही है। बार-बार दाहिनी ओर के वन को देखती है। उसकी मुद्रा से ज्ञात हो जाता है कि वह किसी की प्रतीक्षा कर रही है। दाहिनी ओर से शीघ्रता-पूर्वक त्रिजट का प्रवेश।]

त्रिजट—सुकेशनी! सुकेशनी!

सुकेशनी—(उसकी ओर बढ़ते हुए नाथ!

त्रिजट—बहुत...राम से बहुत बड़ा दान लेकर आया हूँ।

सुकेशनी—(प्रसन्नता से) खुल गये भाग्य हम लोगों के।

त्रिजट—और जानती हो, दान में क्या मिला है?

सुकेशनी—बिना आपके बताये मुझे कैसे ज्ञात हो?

त्रिजट—कल्पना करो।

सुकेशनी—(विचारते हुए) रजत?

त्रिजट—नहीं, नहीं, इससे...इससे बहुत बड़ी वस्तु है।

सुकेशनी—सुवर्ण?

त्रिजट—नहीं, इससे भी बड़ी।

सुकेशनी— रत्न?

त्रिजट—इससे भी...इससे भी बड़ी।

सुकेशनी—तब क्या हो सकता है?

त्रिजट—और कल्पना दौड़ाओ।

सुकेशनी—आप ही बताइए, मेरी समझ में नहीं आता।

त्रिजट—गोधन, प्रिये, एक सहस्र गाएँ।

सुकेशनी—(आश्चर्य से) गोधन!......एक सहस्र गाएँ!

त्रिजट—हाँ गोधन, एक सहस्र गाएँ।

सुकेशनी—परन्तु...परन्तु नाथ, यह तो एक नवीन आपत्ति ले आये आप। इन एक सहस्र गायों की सेवा संभाल कौन करेगा।

त्रिजट—मैं और तुम।

सुकेशनी—तो...तो जितना काम अभी करना पड़ता था उससे भी अधिक काम हो गया (कुछ रुककर) और...और इतने पर भी एक सहस्र गायों को हम सँभाल न सकेंगे।

त्रिजट—अब तो हमें साथी भी मिल रहे हैं। यज्ञदत्त, वररुचि दो पुराने सहपाठी मिले हैं। भविष्य में और प्राप्त होंगे।

सुकेशनी—परन्तु...परन्तु नाथ, जहाँ दूसरे सुख से सुवर्ण, मणि कुछ ले-लेकर गए होंगे, जन्म भर सुख से बैठे-बैठे खायेंगे वहाँ आप यह...

त्रिजट—फिर वही बैठे-बैठे खाने की बात! मैंने तुमसे कहा था न कि मैं वैसे जीवन को निकृष्ट मानता हूँ, निकृष्टतम। धर्म के अनुसार वही जीवन श्रेयस्कर है जो श्रम से स्वेद बहाते हुए व्यतीत किया जाता है। एक उपनिषद् का वाक्य है—'अज्ञानां मार्जनं कृत्वा श्रमसंयमवारिणा।'

सुकेशनी—किन्तु हमारे बच्चे, नाथ!

त्रिजट—उन्हें भी कर्मण्य होना चाहिए, अकर्मण्य नहीं।

[नेपथ्य में गायों के रँभाने का शब्द सुन पड़ता है]

त्रिजट—(शीघ्रतापूर्वक दाहिनी ओर जाते हुए) लो...लो, गोधन पहुंच गया। (प्रस्थान।)

[सुकेशनी एक दीर्घ निश्वास छोड़ती हुई दाहिनी ओर देखती है]

यवनिका

उपसंहार

स्थान—अयोध्या के निकट की वनस्थली।

समय—सायंकाल।

[बाईं ओर तो त्रिजट के गृह का वही आलिन्द है। दाहिनी ओर दूर-दूर तक लम्बे-लम्बे गृहों की पंक्तियाँ दिखती हैं। यद्यपि ये गृह कच्चे हैं तथापि हैं बहुत से। बीच में निकट ही एक छोटा-सा मण्डप बनाया गया है। मण्डप पत्रों और पुष्पों की बन्दनवारों से तथा मङ्गलकलशों से सुशोभित है। बीच में मृत्तिका निर्मित कुछ चौकियाँ हैं। बीच की चौकी पर राम विराजमान हैं। उनके निकट की दूसरी चौकी पर सीता। उसी पंक्ति में तीन चौकियां और हैं जिन पर भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न बैठे हुए हैं। और बाईं ओर भी ऐसी ही चौकियों की पंक्ति पर त्रिजट, सुकेशनी, यज्ञदत्त, वररुचि तथा त्रिजट के अन्य साथी पुरुष और स्त्रियाँ हैं। राम और लक्ष्मण की वेष-भूषा राजसी है। त्रिजट और यज्ञदत्त तथा वररुचि के केश अब सन के समान श्वेत हो गये हैं।]

भरत—(राम से) हाँ, महाराज, गत चौदह वर्षों में आपने भूभार उतारा, दुष्टों से पृथ्वी को रहित किया तो अवध में आर्य त्रिजट ने भी कम काम नहीं किया है। आप इन्हें एक सहस्र गउएँ दे गए थे। चौदह वर्षों में उनकी संख्या सवा लक्ष पहुँच गई है। जो वृषभ जन्मे उनसे योजनों ऊसर भूमि उपजाऊ बनाई गई। जहाँ अन्न, कापास, इक्षुदण्ड, शाक इत्यादि उत्पन्न किये जाते हैं। न जाने कितने नए-नए खाद्य बनाकर तथा सिंचन की व्यवस्था कर इन वस्तुओं की उपज का परिणाम बढ़ाया गया है। उद्यान लगाये गए हैं। उनसे फल और औषधियों की अनेक जातियाँ उत्पन्न की जाती हैं। गोवंश का भी सुधार किया गया है। अब जो गाएँ होती हैं वे पहले

की गायों से बहुत अधिक दूध देती हैं। वृषभ बहुत अधिक परिश्रमी होते हैं। कार्यकर्ताओं को उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के अनुसार देकर शेष सम्पत्ति भी बेंचीं नहीं जाती, वह योग्य पात्रों को बाँट दी जाती है ?

राम—परन्तु पात्रापात्र का निर्णय कैसे होता है ?

भरत—महाराज, कार्यकर्ताओं के त्यागमय जीवन और कार्य का ऐसा प्रभाव है कि जो योग्य पात्र नहीं हैं, जिन्हें सचमुच आवश्यकता नहीं है, यहां अनुचित लाभ उठाने के लिए आते ही नहीं।

राम—अच्छा, यह यहाँ की विशेषता है कि बिना मूल्य के वस्तुएं मिलने पर भी यहाँ से कोई अनुचित लाभ नहीं उठाता।

भरत—फिर महाराज, आर्य त्रिजट को दान इतना मिलता है कि किसी भी कार्य के लिए यहाँ समृद्धि की कमी नहीं और व्यापारिक वृत्ति न रहने के कारण किसी के हृदय में किसी प्रकार की स्पर्द्धा की भावना भी नहीं है।

राम—तो आर्य त्रिजट, जिस प्रकार का कृषियज्ञ करना चाहते थे वैसा ही यज्ञ कर रहे हैं ?

भरत—अब तो कृषियज्ञ के साथ-साथ अन्य यज्ञों का भी आरम्भ हो गया है। विद्याध्ययन, के लिये गुरुकुल स्थापित हुआ है। परिश्रमालय और औषधालय इत्यादि चल रहे हैं।

राम—(त्रिजट से) तो, आर्य त्रिजट, आपने संसार के सामने एक नए प्रकार का यज्ञादर्श उपस्थित किया है और ब्राह्मणों के छहों कर्मों, अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन दान और प्रतिग्रह—का सुन्दर पालन भी आप कर रहे हैं। राम राज्य में सदा इस प्रकार के यज्ञों की प्रतिष्ठा रहेगी।

त्रिजट—परन्तु यह सब मैं राम-कृपा से ही तो कर सका

और कर रहा हूँ।

[कुछ देर निस्तब्धता]

त्रिजट—तो महाराज चलकर हमारी यज्ञशाला के भिन्न-भिन्न विभागों का निरीक्षण करें।

राम—(उठते हुए) अवश्य...अवश्य।

[शेष सब लोग भी खड़े हो जाते हैं।]

यवनिका

श्री उपेन्द्रनाथ "अश्क"

पंजाब के सिद्धहस्त और मंजे हुए उर्दू कहानी लेखक श्री उपेन्द्र-नाथ 'अश्क, इधर कई वर्षों से हिन्दी में लिख रहे हैं। श्री 'अश्क' सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली कलाकार हैं। आपने कविताएं, उपन्यास, कहानियां, नाटक और अनेकों एकांकी-नाटकों की रचना की है। इनकी रचनाओं में जीवन के प्रति दर्दभरा विद्रोह रहता है। यह हास्य-रस और दुखान्त दोनों का प्रतिपादन बड़ी सफलता से करते हैं। आपके एकांकी-नाटको में मानसिक संघर्षों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रधानता से रहता है।

श्री 'अश्क' गृहस्थ-जीवन के सफल चित्रकार हैं। इन्होंने रेडियो प्ले भी लिखे हैं फलतः आपके नाटकों में अभिनय का गुण बढ़ता जा रहा है। इनके एकांकी संग्रह हैं:—

तूफान से पहले, देवताओं की छाया में आदि।

इनकी भाषा पात्रानुकूल होती है आप प्रान्तीय भाषाओं का प्रयोग भी बेखटके करते हैं।

'अश्क' के 'जोंक' एकांकी प्रहसन में 'मान न मान मैं तेरा मेहमान—अकस्मात आ धमकता है। परिवार के लोग उससे पीछा छुड़ाने के लिए अनेकों यत्न—योजनायें बनाते हैं किन्तु विफल। वह घर में धरना मारकर बैठ जाता है। वह मेहमान घर में और घर के लोग भूखे सड़कों पर भटकते फिरते हैं। अन्त में जो प्रो० आनन्द पर बीती, वह एक सुन्दर प्रहसन बन गया है।

पात्र

भोलानाथ	पंजाबी
प्रोफेसर आनन्द	हिन्दुस्तानी
बनवारीलाल	मारवाड़ी
कमला	कुछ दूसरे आदमी
और	

जोंक

(श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क')

~~एक प्रहसन~~

पहला दृश्य

स्थान—

भोलानाथ के निवास-स्थान का एक कमरा

[कमरा बहुत बड़ा नहीं और न बहुत खुला है।

कमरे में दो चारपाइयाँ भी बिछी हैं और दो कुर्सियाँ तथा एक छोटी-सी मेज़ भी रखी है। इसलिए इसे आप शयन-गृह भी कह सकते हैं और ड्राइंग रूम भी।

शेष सामान वही है जो एक साधारण क्लर्क या पत्रकार या ऐसी ही स्थिति के किसी व्यक्ति के यहाँ हो सकता है।

पर्दा उठने पर हम प्रोफेसर आनन्द को मेज़ के पास रखी कुर्सी पर बैठे एक समाचार-पत्र के पन्ने उलटते देखते हैं।

प्रो० आनन्द शक्ल सूरत में प्रोफेसर मालूम होते हों सो बात नहीं। शिक्षा जब से बढ़ी और हिन्दुस्तानियों के भोजन की मात्रा जब से घटी है, तब से कालेजों में ऐसे छात्र आने लगे हैं जिनको उनकी माताएँ आसानी से आधा टिकट लेकर अपने पास ज़नाने डिब्बे में बैठा सकती हैं। प्रोफेसर आनन्द शायद छात्रावस्था में ऐसी ही किस्म के छात्र थे। अभी-अभी एम० ए० करके वे पढ़ाने लगे हैं, इसलिए उनकी अवस्था में कुछ विशेष अन्तर नहीं आया। उन्हें कोई भी मैट्रिक का छात्र समझ सकता है और इस समय तो वे प्रोफेसर की पोशाक में भी हैं। एक तहबन्द और कमीज पहने शायद हजामत बना कर बैठे हैं, क्योंकि साबन की सफेदी उनके चेहरे पर लगी दिखाई देती है और मेज़ पर पड़ा हजामत का खुला सामान भी इसी

बात की गवाही देता है।

पर्दा उठने के कुछ क्षण बाद भोलानाथ दायीं ओर के कमरे से प्रवेश करता है, जिधर शायद रसोई है।

शक्ल-सूरत से भोलानाथ प्रोफेसर साहब से कुछ मोटा ताजा है, पर चेहरे से जो बुद्धिमता प्रोफेसर साहब के टपकती है उसका वहां अभाव है—सीधा-साधा सनकी-सा आदमी है, कंधे झाड़ने की आदत है, ऐसे आदमियों को लोग कभी कभी जनमुरीद भी कह दिया करते हैं। चेहरे से उसके घबराहट टपकती है।

(आनन्द पूर्ववत् समाचार-पत्र में निमग्न है)

भोलानाथ—(परेशानी के स्वर में) यह फिर आ गया आनन्द ! तुम मेरी मदद करो परमात्मा के लिए !

आनन्द—(समाचार-पत्र रखकर) कौन आ गया ?

(भोलानाथ परेशान-सा चारपाई में धँस जाता है)

भोलानाथ—यह एक बार आ जाता है तो जाने का नाम नहीं लेता।

आनन्द—आखिर मालूम भी हो, कौन है यह ?

भोलानाथ—अरे कौन क्या ? राहों का आदमी है।

आनन्द—राहों का—तो यों कहो कि वतनी है।

भोलानाथ—अब वतनी को तो दो हज़ार व्यक्ति मेरे वतनी हैं और कमरे (कंधे झाड़कर) मेरे पास केवल यही दो हैं।

आनन्द—(हैरानी से) तो क्या इनसे जान पहचान भी नहीं।

(उठकर कमरे में घूमता है।)

भोलानाथ—बस, इस बात का चोर हूँ कि अपने छोटे भाई से इनके कारनामे सुनता रहा हूँ और······

आनन्द—(रुक कर) लेकिन तुमने कहा न कि फिर आ गया,

तो इसका मतलब यह है कि ये साहब पहले भी तुम्हें अतिथि सत्कार का आनन्द प्रदान कर चुके हैं।

भोलानाथ—(हँस कर) क्या बताऊँ, तनिक बैठो तो विस्तार से कुछ कहूँ!

(आनन्द चारपाई पर बैठना चाहता है।)

भोलानाथ—यहाँ क्या बैठते हो, वह कुर्सी ले लो।

(कुर्सी घसीटता है।)

आनन्द—मैं यहीं अच्छा हूँ, तुम कहो ?

भोलानाथ—(फिर तनिक-सा हँसकर) बात यह है कि वह मेरा छोटा भाई है न परसराम, जैसा वह आवारा है, वैसे ही उसके दोस्त हैं। उसका एक मित्र है सोम या मोम या क्या जाने क्या ? वह जब भी आता था, अपने इसी भाई की बड़ी प्रशंसा करता था।

आनन्द—देश भक्त हैं ?

भोलानाथ—ख़ाक !

आनन्द—तो कवि होंगे ?

भोलानाथ—इसकी सात पुश्तों में किसी ने कवि का नाम नहीं सुना !

आनन्द—तो वक्ता, डाक्टर, हकीम, वैद्य……?

भोलानाथ—(चिढ़ कर) तुम सुनते तो हो नहीं और ले उड़ते हो, वे थे न प्रसिद्ध अभिनेता—मास्टर बरकत ! यह उनके साथ रह चुका है।

आनन्द—(क़हक़हा लगा कर) तो ये एक्टर हैं !

भोलानाथ—(कंधे झाड़ कर) अब यह तो मुझे मालूम नहीं कि इसने मास्टर बरकत के प्रसिद्ध ड्रामों "मूर्ख राज" और "दर्दे जिगर" में कोई अभिनय किया है या नहीं, सुना था कि यह उनका दायाँ हाथ है।

आनन्द—लेकिन इस बात से तुम्हें क्या दिलचस्पी है ?

भोलानाथ—(खिन्न हँसी के साथ) अरे बचपन था और क्या। जब हम मैट्रिक में पढ़ते थे तब उनके नाटक पढ़ने का बहुत शौक था और यद्यपि उन्हें देखने का अवसर प्राप्त न हुआ था।

आनन्द—'मूर्ख राज' और 'दर्दे जिगर'······(व्यंग से हंसता है।)

भोलानाथ—अरे भाई, उन दिनों हमारे लिए तो वही कालीदास और शेक्सपियर थे, उनके नाटक पढ़ कर और मुहल्ले के एक रसीली आवाज वाले लड़के से उनके गाने सुन कर हम उनकी कला का रसास्वादन कर लिया करते थे।

आनन्द—(हँस कर) और उनके अज्ञात प्रशंसकों में थे ?

भोलानाथ—तुम तो जानते हो कि प्रसिद्ध लेखकों, नेताओं और अभि-नेताओं को, लोग साधारण आदमियों से कुछ ऊँचा ही समझते हैं, और उनसे तो दूर रहा, उनके साथ रहने वालों तक से बात करके फूले नहीं समाते। फिर ये तो मास्टर बरकत के दायें हाथ थे······

आनन्द—(बेचैनी से) अब समाप्त भी करो, तो इनसे तुम्हारी भेंट हुई ?

(फिर उठ कर घूमने लगता है।)

भोलानाथ—तुम समाप्त करने भी दो ? भेंट ! तुम इसे भेंट कह सकते हो। हमारे नगर के हैं न डॉक्टर किशोर······

आनन्द—(रुककर) नगर नहीं, क़स्बा कहो, राहों क़स्बा है।

भोलानाथ—(चिढ़कर) अरे हाँ हाँ, तो मैंने इन्हें डाक्टर किशोरीलाल की दूकान पर बैठे देखा, इनकी बातें दिलचस्पी से सुनी और शायद एक दो बातों का उत्तर भी दिया था. बस·········

आनन्द—फिर तुम इन्हें घर ले आये ?

भोलानाथ—(और भी चिढ़कर) अरे कहाँ, तुम बात भी करने दोगे। इस बात को तो दस वर्ष बीत गये, इसके बाद तो ये पिछले वर्ष मिले और तुम्हें मालूम है कि पिछले वर्ष मैं किस मुसीबत से दिन काट रहा था। चंगड़मुहल्ले का वह पीप्ल वेहड़ा और उसमें यह लाला ज्वालादास का नारकीय मकान और उसकी दो अँधेरी कोठड़ियाँ, जिनमें न कोई रोशनदान था और न खिड़की और गर्मियों में बाहर गली में सोना पड़ता था।

आनन्द—(ऊब कर) लेकिन बात तो तुम इनसे मिलने की कह रहे थे ?

भोलानाथ—हाँ, उन्हीं दिनों जब मैं दिन-भर नौकरी की तलाश में घूमता था, ये एक दिन 'पीप्ल वेहड़ा' के पास ही चंगड़ मुहल्ले में मिल गये और इन्होंने दूर ही से 'नमस्कार' की। मैं जल्दी में तो था, पर क्षण भर के लिए रुक गया।

आनन्द—तो कहने का मतलब यह······

भोलानाथ—(अपनी बात जारी रखते हुए) इन्होंने बड़े तपाक से हाथ मिलाया और कहा कि डॉक्टर किशोरीलाल आपकी बड़ी प्रशंसा किया करते हैं। आप मुझे पहचान तो गये हैं—? मैंने कहा—हाँ हाँ मास्टर बरकत······कहने लगे—बीमार है बेचारा दर्द-गुर्दा से !

आनन्द—दर्देजिगर से नहीं ?

भोलानाथ—(व्यंग की ओर ध्यान न देकर) मैंने खेद प्रकट किया और पूछा कि सुनाइए कैसे आये ? कहने लगे मुझे भी दर्द-गुर्दा की शिकायत है।

आनन्द—(कहकहा लगा कर) यह किसी ने कहा है न कि एक ही तरह के पक्षी एक ही तरह उड़ते हैं।

भोलानाथ—मैंने और भी शोक प्रकट किया। कहने लगे—कर्नल माथुर को दिखाने आया हूँ। कल चला जाऊँगा। मैंने कहा—तो आइए कुछ पानी-वानी पीजिए। कहने लगे—लाला बिहारीलाल प्रतीक्षा तो करते होंगे लेकिन चलिए अपने वतनी का अनुरोध कैसे टाला जा सकता है।

आनन्द—(क़हक़हा लगाता है) यह बिहारीलाल कौन थे ?

भोलानाथ—(जल कर) जाने कोई थे भी या नहीं। उस वक्त मेरे तो पांव तले से धरती निकल गयी ! अत्यावश्यक काम से जा रहा और मैंने तो यों ही शिष्टाचार के नाते पानी के लिए पूछा था। खैर ले आया और पेशबन्दी के तौर पर मैंने पत्नी से 'सिर्फ़' ठंडे पानी का गिलास लाने के लिए कहा।

भोलानाथ—(अपनी बात जारी रखते हुए) पानी पीकर यह महाशय वहीं गली में बिछी हुई चारपाई पर लेट गये। मुझे जल्दी जाना था। मैंने सकुचाते-सकुचाते कहा—मुझे······अ···ज़रा जल्दी है, आप किधर जा रहे हैं ? लेकिन इन्होंने बात काट कर और टाँगे फैलाते हुए कहा—हाँ-हाँ आप शौक से हो जाइए, मैं थक गया हूँ, यहीं जरा आराम करूँगा।······

आनन्द—(हँस कर) खूब !

भोलानाथ—(कंधे झाड़ कर) तुम होते तो मेरी सूरत देखते। नयी-नयी शादी हुई थी और ये हमारे वतनी···

(आनंद फिर क़हक़हा लगाता है।)

भोलानाथ—मरता क्या न करता। मुझे तो जल्दी थी, हार कर चला गया। वापस आया तो ये मजे से बिस्तरा बिछवा कर सो रहे थे और पत्नी बेचारी अन्दर गर्मी में तप रही थी। पहुँचा तो कहने लगी—आपका इतना घनिष्ठ मित्र तो मैंने देखा नहीं। आपके जाने के बाद कहने लगा—तुम तो शायद

नवाँ शहर की हो। मैं चुप रही तो बोला—फिर तो हमारी बहिन हुई।

आनन्द—बहिन !

भोलानाथ—अब कमला मुझे पूछने लगी कि ये हैं कौन ? मैं क्या बताता ? इतना कहकर चुप हो रहा कि हमारे वतनी हैं। चारपाइयाँ हमारे पास केवल दो थीं। आखिर वह गरीब सख्त गर्मी में भी अन्दर फ़र्श पर सोई ! खयाल था दूसरे दिन चले जायँगे, लेकिन पूरे सात दिन रहे और जब गये तो मैंने कसम खाकर कमला से कहा कि अब कभी नहीं आयेंगे लेकिन फिर आ धमके हैं और कमला······।

(कमला प्रवेश करती है।)

कमला—मैं पूछती हूँ, आप चुप-चाप इधर आकर बैठ गये हैं और वे मुझे इस तरह आदेश दे रहे हैं जैसे मैं उनकी कोई मोल ली हुई बाँदी हूँ—'कमला पानी लादो' 'कमला हाथ धुला दो' 'कमला यह कर दो, कमला वह कर दो,' ये हैं कौन ? आप तो कहते थे, मैं इन्हें जानता तक नहीं, फिर ये क्यों इधर मुँह उठाए चले आते हैं ? इन्हें कोई और ठौर-ठिकाना नहीं ?

भोलानाथ—(घबराकर और कंधे झाड़ कर) अब बताओ···

(उठकर खड़ा हो जाता है।)

आनन्द—तुम ठहरो भाभी मुझे सोचने दो।

(उठकर माथे पर हाथ रखे सोचता हुआ घूमता है।)

कमला—लेकिन आप सोच कर करेंगे क्या ? ये कोई इनके पुराने यार होंगे, मुझे इसी बात से तो चिढ़ है कि आखिर ये मुझसे छिपाते क्यों हैं ? क्या मैं इनके मित्रों को घर से निकाल देती हूं ?

(चारपाई के किनारे बैठ जाती है।)

आनन्द—देखो भाभी......

कमला—मैं कुछ नहीं देखना चाहती, देखिए आपसे कोई पर्दा नहीं। हमारे पास कमरे दो हैं और फ़ालतू बिस्तर भी नहीं, फिर आप भी यहीं हैं। इनके ये वतनी तो बिस्तर बिछवा कर सो रहेंगे और मैं पड़ी ठिठुरा करूंगी बाहर बरामदे में।

आनन्द—देखो भाभी, ये इनके मित्र नहीं, यह मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं।

कमला—तो फिर ये इन्हें साफ़ जवाब क्यों नही देते ?

आनन्द—यदि इनसे यह हो सकता तब न ?

भोलानाथ—(जो इस बीच में इधर-उधर घूमता रहा है, रुककर और कन्धे झाड़ कर) हाँ अब वतनी आदमी हैं......

कमला—वतनी हैं तो······

आनन्द—देखो झगड़ने से कुछ न बनेगा इस आदमी को धता बताना चाहिये !

कमला—यही तो मैं कहती हूँ !

आनन्द—लेकिन यह इनसे हो चुका। अतिथि महोदय की ख़बर तो किसी दूसरी तरह ली जायगी।

[कुछ क्षण खामोशी-जिसमें आनन्द सोचता है और भोलानाथ अंगड़ाई लेता है, फिर—]

आनन्द—(धीमे स्वर में) मैं पूछता हूं वह कर क्या रहा है ?

कमला—शायद बाहर गया है।

आनन्द—(जिसे तरकीब सूझ गई है) मैं कहता हूं तुम लिहाफ़ लेलो और चुपचाप लेट जाओ और यदि कराह सको तो कुछ-कुछ समय के बाद कराहती भी जाओ (भोलानाथ से) देखो भाई, तुम कह देना कि मुझे भूख नहीं। मैं बहाना कर दूंगा कि जी भरा होने से मैं उपवास से हूं और बस......

(सीढ़ियों से पाँवों की चाप आती है)

आनन्द—(मुड़ कर) मैं कहता हूँ जल्दी करो। (एक एक शब्द पर ज़ोर देकर) जल्दी करो, इन्हीं कपड़ों समेत लेट जाओ !

(हाथ में दो लौकियां लिए बनवारीलाल दाख़िल होता है।)

भोलानाथ—आइए, आइए ! किधर चले गये थे आप ? ये हैं मेरे मित्र मि० आनन्द, जालंधर में प्रोफेसर हैं, यहां प्रिंसिपल गिरधारीलाल से मिलने आये हैं और (बनवारीलाल की ओर संकेत करके) ये हैं मि० बनवारीलाल, मेरे वतनी, किसी ज़माने में प्रसिद्ध अभिनेता मास्टर बरकत के साथ......

आनन्द और बनवारीलाल—(एक साथ) आप से मिल कर बहुत खुशी हुई।

(दोनों ज़रा हंसते हैं।)

भोलानाथ—ये आप क्या उठा लाये इतनी लौकियाँ ?...

(कमला धीमे से कराहती है।)

बनवारीलाल—यों ही नीचे चला गया था। बाहर बिक रही थीं, (हंस कर) मैंने कहा चलो......

(कमला तनिक और ज़ोर से कराहती है।)

बनवारीलाल—[मुड़ कर और चौंक कर) क्या बात है ? क्या बात है ?

[स्वर में चिंता]

भोलानाथ—उन्हें अचानक दौरा पड़ गया है। बड़ी मुश्किल से होश आया हैं प्रायः पड़ जाया करता है दौरा......हिस्टीरिया......

बनवारीलाल—तो आप इलाज......?

भोलानाथ—इलाज बहुत कराया। कर्नल...(फिर बात के रुख़ को बदल कर) ये तो बीमार पड़ गयीं और (ज़रा हंस कर) लौकियाँ आप इतनी उठा लाये। (फिर आनंद से) क्यों भाई

आनन्द, तुम तो कहते थे...

आनन्द—मैं तो आज उपवास से हूं, तबीयत भारी है।

भोलानाथ—मैं भी खाने के मूड* में नहीं।

बनवारी—(अंदर रसोई की ओर पग उठाते हुए) तो लौकी की खीर......हिस्टीरिया में बहुत लाभ करती है। और मैं बनाता भी अच्छी हूं। (ज़रा हंस कर) साथ ही अपने लिये भी दो रोटियाँ उतार लूंगा और सब्ज़ी भी......लौकी ही की बन जायगी। मेरा तो खयाल है, आप भी खायें, मज़ा न आ जाय तो नाम नहीं। अन्दर अंगीठी तो होगी ही, कोयलों की आँच पर लौकी की खीर बनती भी ऐसी है कि क्या कहूं?

(रसोई में चला जाता है।)

आनन्द—(धीरे से) यह ऐसे नहीं जायगा।

बनवारीलाल—(रसोई से) क्यों भई, मसाला कहाँ है?

कमला—(लेटे-लेटे) कह दो, समाप्त हो गया है।

भोलानाथ—(ज़रा ऊंचे) मसाला तो यार, समाप्त हो गया!

बनवारीलाल—(अन्दर से) और घी कहाँ है?

कमला—कह दो समाप्त हो गया है!

भोलानाथ—(कंधे झाड़ कर) अब यह कैसे कह दूं?

आनन्द—(भोलानाथ से, ऊंचे स्वर में) अरे घी नहीं लाये तुम, सवेरे ही भाभी ने कहा था कि घी खत्म हो गया है, कैसे गृहस्थ हो तुम!

(धीरे से, शरारत की हंसी हंसता है।)

बनवारीलाल—अच्छा एक आने का घी कम-से-कम आज के लिए तो लेता आऊं। मसाला भी, नहीं और खाँड भी,...... मेरा खयाल है......नहीं! और दूध भी......नहीं! मैं जाकर चन्द मिनटों में सब लाया। ये जब तक कुछ खायंगी नहीं,

कमजोरी दूर न होगी।

(चला जाता है।)

आनन्द—(हैरानी से) यह विचित्र मेहमान है जो मेहमानी के साथ मालिक मकान का कर्तव्य भी पूरा कर रहा है और अपनी जेब से !.........

भोलानाथ—मैं कहता हूं आनंद यह जोंक है, कोई और तरकीब भिड़ाओ पांच आने खर्च कर देगा तो क्या हुआ ? गत वर्ष जाते-जाते मुझ से पाँच रुपये ले गया था।

कमला—(चारपाई से उछल कर) दिये आपने पाँच रुपये !

भोलानाथ—(कन्धे झाड़ कर) अब मैं......!

कमला—और मैं पाँच पैसे माँगती हूं, तो नहीं मिलते।

भोलानाथ—अब वतनी.........!

कमला—(क्रोध से) तो भुगतिये, पाँच क्या मेरी तरफ से पाँच सौ दे दीजिए। बस मुझे मैके छोड़ आइये।

आनन्द (उल्लास से उछल कर) ओह ! (ताली बजा कर) स्प्लैं-डिड❀...मैके......ठीक है ! जल्दी करो, भाभी को लेकर किसी पड़ौसी के यहाँ चले जाओ और वह आया तो मैं कह दूँगा, भाभी की तबीयत बहुत खराब हो गयी थी, आखिर भाई साहब उन्हें मैके छोड़ने चले गये—क्यों ?

(प्रशंसा पाने की इच्छा से दोनों की ओर देखता है।)

भोलानाथ—हाँ, यह तदबीर खूब है। (पत्नी से) तुम ज़रा अन्दर पड़ौसिन से बातें करना। मैं कुछ देर के लिए उनके पति के पास बैठक में बैठ जाऊँगा। (आनन्द से) लेकिन यार, मैं कहता हूँ यदि वह न गया ?

आनन्द—उसका बाप भी जायगा। तुम्हारे जाते ही ताला लगा कर मैं भी खिसक जाऊँगा—बस !

❀ खूब

कमला—वाह ! ताला लगा कर आप चले जायँगे तो जो बर्तन वह ले गया है—वे ? नहीं आप यों कहना कि वे चले गये हैं, मैं भी जा रहा हूँ, बस उसे निकाल कर घास मण्डी तक छोड़ आना ।

भोलानाथ—घास मंडी तक ! यह ठीक है ।

(क़हक़हा लगता है ।)

आनन्द—हाँ हाँ, लेकिन तुम जल्दी करो, वह आ जायगा ।

भोलानाथ—हाँ-हाँ, जल्दी करो, (कमला को ट्रंक खोलने के लिए जाते देख कर) मैं कहता हूँ नयी साड़ी पहनने की ज़रूरत नहीं, तुम सचमुच मैके नहीं जा रही हो ? और वे हमारे पड़ौसी तुम्हें इन कपड़ों में कई बार देख चुके हैं ।

कमला—(ट्रंक को ज़ोर से बन्द कर उठते हुए) मैं पूछती हूँ...

आनन्द—हाँ-हाँ, वहीं पूछना चलो-चलो.........

(दोनों को ढकेलता हुआ ले जाता है ।)

पर्दा

दृश्य दूसरा

उसी मकान का बरामदा

[बरामदा, एक ओर से, जिधर दर्शक बैठे हैं, खुला है । इस ओर बड़ी बड़ी चिकें लगी हुई हैं, जो खोल दी जाती हैं तो यह बरामदा एक लम्बा-सा कमरा बन जाता है । इस समय चूँकि चिकें बन्द, छत के साथ लटक रही हैं, इसलिए बरामदे में क्या हो रहा है, इसको दर्शक भली भाँति देख सकते हैं ।

दो हल्की-हल्की बेंत की कुर्सियाँ बरामदे में बायीं ओर को रखी हैं । उन पर दो वर्ष से रोग़न नहीं किया गया । कुर्सियों के आगे एक बेंत की ही तिपाई रखी है । जिस पर मैला-सा, कुर्सियों के रंग का नीला कपड़ा बिछा है ।

बायीं ओर एक दरवाज़ा है, जो सीढ़ियों पर खुलता है और सामने दो दरवाज़े हैं जो क्रमशः पहले दृश्य के दो कमरों को जाते हैं। रसोई शायद इन कमरों से परे अन्दर की ओर है। दरवाज़े पुरानी तर्ज़ के हैं और इनके ऊपर रौशनदान हैं, जिनके शीशे शायद अभी तक नहीं लगे या टूट गये हैं। हाँ, उनकी जगह कार्डबोर्ड लगे हुए हैं। दो ख़ाली चारपाइयाँ दीवार के साथ खड़ी हैं।

एक कुर्सी पर मि० आनन्द बैठे हैं, दूसरी कुर्सी पर उनके पैर हैं। उनके दायीं ओर तिपाई पर जूठे खाली बर्तन रखे हैं।

उस समय जब पर्दा उठता है, वे सिगरेट सुलगाने की फ़िक्र में हैं।]

आनन्द—(उस दियासलाई को धरती पर पटक कर जो बुझ गई है) हुँ !!

(भोलानाथ सीढ़ियों के दरवाजे से झाँकता है।)

भोलानाथ—मैं कहता हूँ, हमें वहाँ बैठे-बैठे एक घंटा हो चुका है और तुमने अभी तक आवाज़ नहीं दी।

(उछल कर आनन्द उसके पास जाते हैं।)

आनन्द—मैं कहता हूँ, धीरे बोलो, वह रसोई में बैठा खाना खा रहा है।

(दोनों बरामदे के बीच में आ जाते हैं।)

भोलानाथ—(बर्तनों की ओर देखकर) और यह तुम ?......

आनन्द—मैंने भी उपवास खोल लिया। कम्बख़्त, लौकी की खीर तो बड़े मज़े की बनाता है।

भोलानाथ—लेकिन.........

आनन्द—लेकिन क्या ? जो तय हुआ था, उसके अनुसार ही मैंने सब कुछ किया। पर वह एक ही शैतान है।

भोलानाथ—(सोचते हुए) तो गया नहीं ?

आनन्द—वह इस तरह आसानी से न जायगा, ऐसे को साफ़ जवाब...

भोलानाथ—शिष्टाचार, अखलाक......तुम नहीं समझते आनन्द !

(सिर खुजाते हुए कमरे में घूमने लगता है।)

आनन्द—साफ जबाब नहीं दे सकते तो भुगतो !

भोलानाथ—तुमने उससे कहा नहीं कि भाभी की तबीयत...

आनन्द—कहा क्यों नहीं। जब वह सब चीजें वापस लेकर आया तो मैंने बुरा-सा मुँह बना कर कहा—भाभी की तबीयत तो बड़ी खराब हो गयी। उन्होंने कहा मैं तो मैके जाऊँगी, और वे ठहरे जनमुरीद, उसी क्षण लेकर चले गये।

भोलानाथ—(अत्यन्त क्रोध से) जनमुरीद !

आनन्द— (हँस कर और भी धीरे से भेद-भरे स्वर में) अरे वह तो मैंने केवल बात बनाने के लिए कहा था।

भोलानाथ—(दिल ही दिल में क्रोध पीकर) हुँ !

आनन्द—यह कह कर मैं ताला उठाने के लिए बढ़ा और वे रसोई में चले गये। मैंने ताले को हाथों में उछालते हुए कहा—मैं तो जा रहा हूँ। कहने लगे—खाना तो खाते जाइएगा, लौकी की खीर का मजा.........।

भोलानाथ—और तुम्हारे मुँह में पानी भर आया ?

आनन्द—नहीं, मैंने कहा—मैं तो जाऊँगा।

भोलानाथ—फिर ?

आनन्द—उसने बेफ़िक्री से अंगीठी में कोयले डाल कर उन्हें सुलगाते हुए कहा—अच्छा तो हो आइए, लेकिन आ जाइएगा जल्दी, ठण्डी खीर का क्या मजा आयगा ?

भोलानाथ—(गुस्से से दाँत पीस कर) हुँ !

आनन्द—तब मैंने दिल में सोचा कि यह इस तरह न जायँगे। कोई दूसरी तरकीब सोचनी पड़ेगी। चाहिए यह था कि

में ताला लगाकर बाहर बरामदे में मिलता, लेकिन भाभी की दो तश्तरियों ने...

भोलानाथ—(आकुलता से) फिर-फिर......?

आनन्द—फिर क्या, मैंने सोचा कि इन्हें यहाँ छोड़कर घर से नहीं जाना चाहिए, कहीं कोई चीज ही न उठा कर चम्पत हो जायँ, इसलिए बात बदलकर मैंने कहा—वैसे जाने की मुझे कोई जल्दी नहीं। यह आपने ठीक कहा कि खीर का मजा ताजी में ही है। लाइए देखें तो सही आप खीर कैसी बनाते हैं? बस, उन्होंने खीर तैयार की, लौकी ही की सब्जी बनाई और हल्के-हल्के फुल्के पकाए—कम्बख्त गजब की रसोई बनाता है।

भोलानाथ—(कंधे झाड़ कर निराशातिरेक से) अब...... (सिर नीचे किये घूमता है।)

आनन्द—अब क्या, तुम भी निश्चिन्त होकर चढ़ा जाओ। भूखे पेट कुछ न सूझेगा, तर माल अन्दर जाय तो.........

[अन्दर कमरे से बनवारी रुमाल से हाथ पोंछता हुआ प्रवेश करता है।]

बनवारीलाल—(चौंक कर) अरे! गये नहीं आप?

भोलानाथ—(जैसे कब्र से) गाड़ी मिस कर गये।

बनवारीलाल—और कमला जी.........?

भोलानाथ—(चिढ़ कर) उन्हें फिर दौरा पड़ गया।

बनवारीलाल—(गम्भीरता से) ओहो, तो कहाँ.........

भोलानाथ—वेटिंग रूम में बिठा आया हूँ। दूसरी गाड़ी देर से जाती थी, इसलिए.........

बनवारीलाल—(अफसोस के साथ अन्दर को मुड़ता हुआ) एक डिब्बे में खीर डाल कर बन्द किये देता हूँ। साथ ले जाइए, विश्वास कीजिए, लौकी की खीर हिस्टीरिया के दौरे में बड़ा लाभ करती है और फिर वे प्रातः से भूखी तो होंगी?

भोलानाथ—(क्रोध को छिपाते हुए) नहीं; कष्ट न कीजिए, मैं दवाई के साथ थोड़ा-सा दूध पिला आया हूँ।

बनवारीलाल—आप ही लीजिए (आनन्द की ओर देखकर) क्यों प्रोफ़ेसर साहब, इन्होंने भी तो सुबह का......?

भोलानाथ—(अन्यमनस्कता से) मैं तो खाने के मूड में नहीं।

बनवारीलाल—(खिन्न हुए बिना) क्यों न हो (तनिक हँस कर) वह एक बार किसी ने एक फ़क़ीर से पूछा था—खाने का ठीक समय कौन सा है? उसने उत्तर दिया—सम्पन्न की जब तबीयत हो और विपन्न को जब मिले। आप ठहरे अमीर आदमी और हम...गरीब! अच्छा, पान तो लेंगे न?

भोलानाथ—(रूखेपन से) मैं पान नहीं खाता।

बनवारीलाल—(मुस्करा कर) और आप प्रोफेसर साहब?

आनन्द—(जो बहुत खा गया है) मुझे कोई आपत्ति नहीं।

बनवारीलाल—अच्छा मैं नीचे पनवाड़ी से पान ले आऊँ...

(बेपरवाही से हँसता हुआ चला जाता है।)

भोलानाथ—(कन्धे झाड़कर) मैं कहता हूँ अब......?

आनन्द—चुप!

भोलानाथ—(आकुलता से) आख़िर अब क्या किया जाय? वह कब तक पड़ोसी के यहाँ बैठी रहेगी? तुम तो मज़े से खाना खाकर कुर्सी पर डट गये हो और हमारी आँतें...

आनन्द—भई खाना खाने के बाद मेरी तो सोचने समझने की शक्तियाँ जवाब दे जाती हैं, मैं तो सोऊँगा। (उठते हैं।)

भोलानाथ—लेकिन तुम कहते थे, इसकी खबर लूँगा......

आनन्द—(फिर बैठ कर) वह तो ज़रूर लूँगा, पर दो-चार मिनट आँख लग जाय तो कुछ सूझे।

[उनींदी आँखों से भोलानाथ की ओर देखता है और हँसता है। भोलानाथ निराश-सा हाथ कमर के पीछे रखे सोचता हुआ घूमता है।]

भोलानाथ—उठो, हो चुका तुम से। बाहर ताला लगाये देते हैं। स्वयं रो-पीट कर चला जायगा। हम दोनों किसी होटल में खाना खा लेंगे।

आनन्द—(कुर्सी पर पीछे की ओर लेट कर और जमाही लेकर) तो फिर मुझे क्यों घसीटते हो? मुझे नींद लगी है। (फिर कुर्सी से उठता है।)

भोलानाथ—(जो बहुत तेज़ी से कमरे में घूम रहा है, अचानक रुक कर) आख़िर क्या मतलब है तुम्हारा ?

आनन्द—(फिर कुर्सी में धँस जाता है।) अरे भई तुम बाहर ताला लगा कर जाना चाहते हो, लगा जाओ। उस दूसरे कमरे को अन्दर से बन्द कर जाओ और इस कमरे में बाहर से ताला लगा दो। मुझे तीन बजे प्रिंसिपल गिरधारीलाल से मिलने जाना है। तब मैं उस कमरे से बाहर निकल कर बाहर से ताला लगाता जाऊँगा ! अब जल्दी करो नहीं तो वह आ जायगा।

(उठ कर बायीं ओर के कमरे में चला जाता है।)

(अन्दर से)

—लो, मैं तो लेट गया। अब पान स्वप्न में ही खाऊँगा।

[भोलानाथ कुछ क्षण तक घूमता है फिर तेज़ी से वह भी अन्दर चला जाता है। उसकी क्रोध से भरी चिड़चिड़ी आवाज आती है।]

—ताला कहाँ है ? मैं कहता हूँ—ताला कहाँ है ?.. कम्बख्त ताला......मिल गया ! मिल गया !!

[ताला हाथ में लिए आता है और अंगुली में कुंजी घुमाता है।]

आनन्द—(अन्दर से) अरे देखो यह उसका बैग बाहर रखते जाओ नहीं तो इसी बहाने आ जायगा।

[भोलानाथ फिर अन्दर जाता है और कपड़े का एक पुराना,

भरा-सा हैंड-बैग लेकर आता है। हैंड-बैग को बाहर दीवार के साथ टिका देता है और दरवाज़ा बन्दकरके ताला लगाने लगता है कि अन्दर से प्रोफ़ेसर आनन्द की आवाज़ आती है:—]

—सुनो—सुनो।

भोलानाथ—(फिर जल्दी से किवाड़ खोलकर) कहो !

आनन्द—अरे बर्तनों को अन्दर रखते जाओ !

भोलानाथ शीघ्रता से बर्तन उठाकर देता है।)

आनन्द—(बर्तन लेकर) और यह तिपाई और कुर्सी भी दे दो।

[भोलानाथ जल्दी-जल्दी तिपाई और कुर्सियाँ देता है, फिर जल्दी-जल्दी ताला लगाता है। जल्दी में चारपाई से ठोकर खाता है और बड़बड़ाता हुआ चला जाता है।

कहीं बाहर घड़ियाल 'टन-'टन' करके दो बजाता है। बनवारीलाल मुँह में पान दबाये और कागज में लिपटी पान की एक गिलौरी एक हाथ में थामे दाख़िल होता है।

दरवाजे लगे हुए देखकर आवाज़ देता है—

—भोलानाथ-भोलानाथ !

फिर कमरे में ताला लगा और बाहर अपना बैग पड़ा देखकर चौंकता है, मुस्कराता है। फिर अपने आप—

—खैर अभी तो मैं सोऊँगा।

चारपाई बिछाता है, जो दूसरे कमरे के दरवाजे को बिलकुल रोक लेती है। उस पर लेट कर सिगरेट सुलगाता है और एक दो कश लगाकर करवट बदल लेता है।]

(पर्दा गिरता है।)

[कुछ क्षण बाद पर्दा फिर उठता है और बनवारीलाल गहरी नींद में सोया दिखाई देता हैं, उसके खर्राटों की आवाज साफ़ सुनायी देती है।]

पर्दा

दृश्य तीसरा

[पर्दा धीरे-धीरे उठता है। दृश्य वही। बनवारीलाल करवट बदलता है। अन्दर घड़ी में तीन बजते हैं, वह धूप की ओर देखता है।]

—ओह, धूप कहाँ चली गयी ?

ऊपर रौशनदान का गत्ता हिलता है और किसी का हाथ बाहर निकलता है। वह चुपचाप करवट बदल लेता है।

धीरे-धीरे गत्ते को हटाकर प्रो० आनन्द सूट-बूट पहने रौशनदान में से बड़ी मुश्किल से उतरने का प्रयास करते हैं।]

बनवारीलाल—(जैसे किसी की आहट से चौंक कर) कौन है ? (फिर चौंक कर और उठकर) कौन, कौन रौशनदान से अन्दर दाखिल होने का प्रयास कर रहा है ? (शोर मचाता है) चोर... चोर दौड़ियो...भागियो !!

आनन्द—मैं हूँ आनन्द, (आवाज़ गले में फँसी सी।)

बनवारीलाल—(पूर्ववत् स्वर में घबराहट लाकर) चोर ..... चोर......दौड़ियो.....भागियो !!

[चार-पाँच आदमियों के भागते आने का स्वर।

एक मारवाड़ी, एक हिन्दुस्तानी और एक दो पंजाबी सीढ़ियों से प्रवेश करते हैं]

मारवाड़ी—(जिसकी साँस अभी फूल रही है) कांई छे बाबू साब, कांई छे[1] ?

हिन्दुस्तानी—क्या बात है भाई; क्या बात है ?

पंजाबी—(सबको पीछे धकेल कर) की गल्ल ऐ, की गल्ल है; किद्धर चोरी होई है, किद्धर[2] ?

---

१ क्या है बाबू साहिब, क्या है ?

२ क्या बात है, क्या बात है, किधर चोरी हुई है, किधर ?

बनवारीलाल—(आनन्द की ओर संकेत करके) यह देखिए आजकल के जंटलमैन बेकार। कोई काम न मिला तो यही व्यवसाय अपना लिया। दिन दहाड़े डाका डाल रहे हैं। मेरे मित्र हैं न पण्डित भोलानाथ। मैं उनसे मिलने के लिए आ रहा था। देखता हूँ तो ये अन्दर दाखिल हो रहे हैं। यह बैग शायद पहले निकाल कर रख चुके थे। (व्यंग्य से आनन्द की ओर देखकर) उतरिए महाशय, अब जरा चन्द दिन बड़े घर की रोटियाँ तोड़िए!

हिन्दुस्तानी—(आगे बढ़कर) यह बैग उठा रहे थे?

बनवारीलाल—न-न इसे हाथ न लगाएगा। इसमें सब गहने बन्द होंगे। पुलिस ही आकर खोलेगी।

आनन्द—(जो बिलकुल घबरा गया है) मैं...मैं...

मारवाड़ी—अबे साला, मैं-मैं क्या, नीचे तो उतर! मार-मार कर भूंस बना देंगे!

हिन्दुस्तानी—(दार्शनिक भाव से) आजकल की बेकारी ने नौजवानों को चोर और डाकू बना दिया है!

पंजाबी—ओए, उत्तर ओए,! ओथेई की टँग हो गया ऐ। सूट तां वेखो जिवें नाडूखां दा साला होंदा ऐ।[1]

[आगे बढ़कर आनन्द को पाँव से पकड़कर घसीटता है। वह धम से फर्श पर आ गिरता है। पंजाबी युवक दो चार चौरस थप्पड़ उसके मुँह पर लगा देता है।]

आनन्द—(क्रोध और अपमान से जलकर) मैं पण्डित भोलानाथ का मित्र प्रो० आनन्द......

---

1 अबे उतर, वहां ही क्या टंग गया है, सूट तो देखिए जैसे नाडूखां का साला होता हो।

पंजाबी—चल चल प्रोफेसर दा बच्चा, जाके थानेवालियां नूं दस्सीं कि तू प्रोफेसर हैं जाँ प्रिंसिपल ![1]

(सब क़हक़हा लगाते हैं।)

बनवारीलाल—मैं भी उनका मित्र हूँ, लेकिन उनकी अनुपस्थिति में मकान नहीं तोड़ता फिरता।

मारवाड़ी—आजकल जमानो एसो छै बाबू जी ! काई करयो जाय।[2]

बनवारीलाल—(गर्ज कर) क्या किया जाय ! मैं अभी पुलिस को टेलीफोन करता हूँ। आप इसे पकड़ रखें (जाते हुए) और देखिए बैग को हाथ न लगाइएगा।

[कई और व्यक्ति आते हैं और 'क्या हुआ ?' 'क्या हुआ ?' का शोर मच जाता है।]

सब—

क्या बात है ? क्या हुआ ? क्या हुआ ?

मारवाड़ी—यह चोर चौड़े दिहाड़े चोरी कर रह्यो छो शाब ![3]

हिन्दुस्तानी—(व्यंग्य से) जन्टलमैन चोर !

आनन्द—मैं कहता हूँ।......

पंजाबी—(एक और थप्पड़ जमाकर) तूं की कहनाएँ नाले चोर नाले चतुर ![4]

(भीड़ को चीरता हुआ भोलानाथ लाता है।)

भोलानाथ—क्या बात ? क्या बात है ?

---

१ चल चल प्रोफेसर का बच्चा, जाकर थाने वालों को बताना कि तू प्रोफेसर है या प्रिंसिपल।।

२ आजकल का जमाना ऐसा ही है बाबू जी, क्या किया जाय।

३ यह चोर दिन दहाड़े चोरी कर रहा था साहिब !

४ तू क्या कहता है, चोर और फिर चतुर।

मारवाड़ी—बच गया छे शाब, थाके चोरी कर रह्यो छो।[1]

हिन्दुस्तानी—समझिए बच गये। आपके मित्र ने इसे ठीक मौके पर चोरी करते हुए पकड़ लिया।

आनन्द----(जिसका साहस भोलानाथ के आने से बढ़ गया है) मैं कहता हूं...

मारवाड़ी----(लपक कर) तू कांई कहे छे।[2]

हिन्दुस्तानी—(अदा से) यह कहता है......

पंजाबी—एह केहंदा ए (चबा-चबा कर) नाले चोर, नाले चतुर ! एह हैंड बैग किथे लै चलिया सू......[3]

(सब हंसते हैं।)

भोलानाथ—(बढ़कर पंजाबी की गिरफ्त से आनन्द को छुड़ाता हुआ) छोड़िये छोड़िये, आप सब जाइये। ये मेरे मित्र हैं, मैं इनसे निबट लूंगा।

हिन्दुस्तानी—लेकिन चोर......

भोलानाथ—मैं कहता हूं, इन्होंने कोई चोरी नहीं की, आप जाइये, मेरी पत्नी को आना है और आप सीढ़ियाँ रोके हैं।

(सब बुड़बुड़ाते हुए चले जाते है।)

पंजाबी—(रुक कर) पर ओह बाबू ![4]

भोलानाथ—(चीख कर) यह शैतान गया नहीं ?

(पंजाबी जल्दी-जल्दी चला जाता है।)

---

१ साहिब बच गए आप, यह आपके चोरी कर रहा था।

२ तू क्या कहता है।

३ यह हैंड बैग कहाँ ले चला था।

४ पर वह बाबू

आनन्द—वह तो पुलिस में रिपोर्ट लिखाने गया है।

भोलानाथ—आखिर हुआ क्या ?

आनंद—होना क्या था, सब उसकी बदमाशी है।

भोलानाथ—आखिर बात क्या हुई ?

आनंद—होती क्या ? तुम्हारे जाने के बाद मैं लेट गया तो कुछ ही देर बाद वह आया। पहले तुम्हें आवाजें दीं, फिर शायद ताला देख बड़बड़ाया। चारपाई घसीट कर बिल्कुल उसे दरवाजे के आगे बिछा कर लेट गया। मैं।.........

भोलानाथ—तुम्हारे साथ ऐसा ही होना चाहिए था, कहा न था चलो हमारे साथ।

आनन्द—साढ़े तीन बजे मुझे प्रिंसिपल साहिब से मिलना था। आखिर प्रतीक्षा करके मैं तैयार हुआ पर जाऊं किधर से ? मैं तिपाई पर चढ़ कर रोशनदान तक चढ़ा, फिर उतरने लगा था।

भोलानाथ—और वह तुम्हारा भी गुरु निकला ! मैंने कहा था न कि अव्वल दर्जे का पाजी है ?

आनन्द—उसने तो शोर मचा दिया, इतने आदमी इकट्ठे कर लिये और उस पंजाबी ने तो कई थप्पड़ मेरे मुंह पर जड़ दिये।

(बनवारी प्रवेश करता है।)

बनवारीलाल–(जैसे कुछ जानता ही नहीं) ये विचित्र दोस्त हैं आपके। यह तो सब कुछ उठाकर ही ले चले थे।

भोलानाथ–आपको शर्म नहीं आती, ये तो अन्दर ही थे।

बनवारीलाल–लेकिन मुझे क्या मालूम था, मैंने आवाजें दीं, ये बोले तक नहीं।

भोलानाथ—सो रहे होंगे।

बनवारीलाल—तो जब जगे थे, तब मुझे आवाज देते, रौशन-दान से उतरने की क्या आवश्यकता थी......?

भोलानाथ—अच्छा हटाइये इस मामले को। कमला की तबीयत खराब हो रही है। मैं इसी गाड़ी से उसे गुरदासपुर ले जाऊंगा। चलो आनन्द तुम मेरे साथ चलो। अब प्रिंसिपल साहिब से कल मिल लेना।

बनवारीलाल—आप गुरदासपुर जा रहे हैं। आपकी ससुराल तो नवाँ शहर है?

भोलानाथ–वहाँ कमला के बड़े भाई रहते हैं।

बनवारीलाल–(चौंक कर) भाई!

भोलानाथ–म्युनिसिपल कमेटी में हेड क्लर्क हैं।

बनवारीलाल–म्युनिसिपल कमेटी में (उल्लास से हल्की सी ताली बजाकर) यह आपने अच्छी खबर सुनाई। मैं स्वयं परेशान था। वहाँ म्युनिसिपल कमेटी में मुझे काम है। गुरदासपुर में मेरा कोई परिचित नहीं था। अब आप साथ होंगे तो सब कुछ सुगमता से हो जायगा। ठहरिए मैं यह बैग उठा लूं।

(बढ़कर बैग उठाता है।)

पर्दा

पात्र

प्रभा

सुबोध—प्रभा का सौतेला भाई

दिवाकर—सुबोध का एक मित्र

पिता—सुबोध व प्रभा के पिता

माँ—सुबोध की माँ

श्री विष्णु प्रभाकर

श्री विष्णु प्रभाकर प्रगतिशील भावुक लेखक हैं। उन्होंने भावपूर्ण कहानियों और एकांकी नाटकों की रचना की है। यह पूंजीवादी व्यवस्था की असमानता-विषमता में अशान्ति के बीज देखते हैं। इनका विश्वास है कि जब तक समाज में आमूल-चूल क्रान्ति नहीं होती तब तक शान्ति असम्भव है। इन्होंने अपनी रचनाओं में समाज और राष्ट्र का नैतिक जीवन ऊंचा करने की भावनाएं अभिव्यक्त की है। यह चोर बाजारी, रिश्वत-खोरी पर तीखे व्यंग करते हुए जनता में सच्चे नागरिक बनने की प्रेरणा करते हैं।

हिन्दू-मुस्लिम एकता पर आपने अधिक बल दिया है।

श्री विष्णु प्रभाकर गद्य-गीत लेखक, एकांकीकार; निबन्धकार और कुशल कहानीकार हैं। इन्सान और अन्य एकांकी इस संग्रह के हैं।

हमारे समाज में सौतेली मां की भी एक समस्या है जो अपने दुर्व्यवहार से सौतेली संतान का जीवन नरक-मय बना देती हैं। 'भाई' ध्वनि-नाट्य में इसी समस्या का चित्रण भी है और समाधान भी है।

'भाई' में भाई अपनी बहन की तत्परता से रक्षा करता है। वह अपने समाज के तीखे व्यंगों और माता-पिता के विरोधों से संघर्ष करता हुआ अन्त में अपनी बहन को आत्म हत्या के पाप से बचाता है।

अबला अपने पैरों पर खड़ी होकर सबला बनती है।

'भाई' में प्रभाका चरित्र नरक से उठकर स्वर्ग में पहुंचा

भाई

पहला दृश्य

माँ—(विद्रूप का स्वर) मैं सब जानती हूँ, तुझे जो हो रहा है। तू अगर काम नहीं करना चाहती, तो कह क्यों नहीं देती ? बहाने क्यों बनाती है ? मुझे यह बड़बड़ाना अच्छा नहीं लगता, समझी ?

प्रभा—मैं बड़बड़ाती हूँ, माँ !

माँ—और क्या करती है ? जब देखो, तब कुछ-न-कुछ बोलती रहती है। कोई सुने, तो समझे, लड़की को न-जाने क्या कष्ट है। पर कष्ट कुछ हो तो। अच्छा-भला रूप निखरता आ रहा है। बीमारी में भी कहीं रंग निखरता है ? पर वह तो यह बात है...

प्रभा—(एकदम) माँ, तुम क्या कह रही हो ?

माँ—ठीक कह रही हूँ। यह सब मुझे बदनाम करने की चालें हैं। निगोड़ा रिश्ता ही ऐसा है। सब कोई बिश्वास कर लेते हैं। मौसी मारती है, तो भी कोई कुछ नहीं कहता। माँ हित की दृष्टि से भी कुछ कहती है, तो सब नाम धरते हैं !

प्रभा—पर मां, मैं तो कुछ नहीं कहती। मैं तो तुम्हारी हर बात मानती हूँ।

माँ—अरे, मैं जानती हूँ। ऊपर से बड़ी मीठी बनती है, पर काम सब ऐसे करती है, जैसे दूसरे समझें, मैं तेरी दुश्मन हूँ। जानती है, तेरी उमर में मैं कितना काम करती थी ? और रही बुखार की बात, इस उमर में वैसे ही गरमी रहती है; लेकिन वह तो यह बात है...

प्रभा—(रुँधा स्वर) माँ, तुम ऐसी बातें क्यों कहती हो ? तुम मेरी पीड़ा क्यों नहीं समझतीं ? मैं सच कहती हूँ, मेरे अन्दर आग दहक रही है। मैं हर क्षण जलती रहती हूँ, पर जल नहीं पाती ! माँ, मैं कैसे छाती चीरकर दिखाऊँ।

माँ—छाती चीरकर देखूँ, ऐसी राक्षसी मैं नहीं हूँ। ना बाबा, यह चरित्र किसी और को दिखाना। देखो रे, पढ़-लिखकर ये छोकरियाँ न-जाने क्या-क्या बोलना सीख लेती हैं। मैं तो आज तेरे बाप से कह दूँगी कि बेटी को सम्हालकर रखो। कल को कुछ हो गया तो···

प्रभा—(एकदम) माँ !···(फूट-फूटकर रोती है)

माँ—ना बाबा, मुझसे तो यह सब नहीं देखा जाता। आजकल की लड़कियाँ न-जाने कौन-सी विद्या पढ़ती हैं कि जब चाहो रो देती हैं, जब चाहो हँस देती हैं ! (तीव्र होकर) प्रभा, सुन रखो, इस प्रकार नाटक करने से काम नहीं चलेगा। मैंने कालेज में नहीं पढ़ा है, पर कालेज-पढ़ी बहुत देखी हैं। (अधिकार से) जाओ, उठकर काम करो।

(सुबोध के आने की पदचाप)

सुबोध—माँ, तुम यहाँ क्या कर रही हो ? मैं तुम्हें रसोई में देख रहा था। आओ न, भूख लगी है।

माँ—आऊँ क्या ? यह तेरी जीजी न जीती है, न जीने देती है।

सुबोध—जीजी ! जीजी को क्या हुआ है ? बिल्कुल अच्छी दिखाई देती हैं। मुझे तो लगता है, जैसे इधर इनका स्वास्थ्य सुधरता आ रहा है। किस डाक्टर की दवा खाती हैं।

माँ—दवा खाने का क्या हुआ है। भगवान् ने अच्छा-भला रूप-रंग दिया है; पर बात यह है कि कुछ लोग नाशुक्रे होते हैं। संसार को दिखाने के लिए सदा आसन-पाटी लिए पड़े रहते हैं।

सुबोध—और वह भी आजकल की ऋतु में! कैसा प्यारा मौसम है! रिमझिम रिमझिम पानी पड़ता है। धीमी-धीमी शीतल वायु बहती है। वृक्ष, लता और गुल्म प्रसन्न होकर ऐसे झूमते हैं कि हृदय खिल उठता है। ऐसे समय में कोई आसन-पाटी लेकर पड़ता है, तो वह अभागा है, माँ!

मां—वह क्यों अभागी होती, अभागी तो मैं हूँ! मैं उसे तंग करती हूँ! मैं उसे भूखा मारती हूँ! मैं उसे बीमारी में दवा नहीं देती! मैं बीमारी में भी उससे काम लेती हूँ...

सुबोध—मालूम होता है, आसन-पाटी जीजी के साथ-साथ तुमने भी ली है।

मां—मैंने तो ली ही है। मैं तो पहले ही कहती थी, सब ग़लती मेरी है, मेरी है, मेरी है। बाबा रे, इस घर में कैसा एका है! न-जाने मेरी मौत कहाँ छिपी बैठी है मेरे भाग्य के हैज़ा, प्लेग, नमूनिया सभी मर गए हैं!

सुबोध—ना माँ, हैज़ा, प्लेग और नमूनिया तीनों अमर हैं और विश्वास रखो, बुलाने पर किसी का निमन्त्रण अस्वीकार नहीं करते!

मां—(तेज़ क्रोध) तू तो यही चाहेगा! आख़िर बाप तो तेरा भी वही है। (रोती है) मैं मर जाऊँगी, तो जानती हूँ, तू घी के दिये जलाएगा। पर एक बात मेरी भी याद रख ले: जैसे तुम लोगों ने मिलकर मेरी आत्मा को सताया है, वह अन्तर्यामी देखते हैं। वे उसका बदला लेकर छोड़ेंगे। यह उनका नियम है कि इस दुनिया में जो जैसा करता है, उसका वैसा ही फल उसे मिलता है।

सुबोध—(सरलता से) माँ, तुम्हारा ज्ञान इतना बड़ा है, यह तो आज ही पता लगा है। तुम्हें तो सचमुच किसी कालेज में प्रोफेसर होना चाहिए था। अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है।

भारत-सरकार ने जिन पदों के लिए प्रार्थना-पत्र मांगे हैं, उन पर स्त्रियाँ भी नियुक्त हो सकती हैं। तुम भी एक प्रार्थना-पत्र भेज दो। कहो तो लिख लाऊँ।

मां—मैं कहती हूँ, मेरा मज़ाक मत उड़ा।

सुबोध—तो जाने दो, मुझे भूख लगी है, चलकर खाने को दो।

माँ—चल। प्रभा, सुबोध को खाने को दे। मुझे जाना है।

सुबोध—न माँ, तुम दो। (कान में) जीजी का ऐसा वैसा बुखार हो, तो क्या पता लगता है। एक बुखार होता है, जिसमें अन्दर की सब कान्ति ऊपर निखर आती है। वह बड़ा ज़हरीला होता है। ऐसे बीमार के हाथ का छुआ पानी भी नहीं पीना चाहिए।

माँ—(ज़रा ढीला स्वर) चल, परे हट, मुझे भरमाता है। मैं सब जानती हूँ। उसको बुखार-उखार नहीं है। सब छल-छिद्र है। पर बैठ, मैं खाना भिजवाती हूँ। मुझे ज़रा पड़ोस में जाना है। तू यहीं रहना, अच्छा।

सुबोध—अच्छा, माँ। (माँ के जाने का स्वर)

सुबोध—जीजी, अब ज़रा उठो। माँ तो गई और उसके साथ तुम्हारा बुखार भी गया!

प्रभा—सुबोध, तू हमेशा हँसी करता रहता है।

सुबोध—हँसना जीवन है, जीजी!

प्रभा—पर उन्हीं के लिए, जिनके पास हँसने के साधन हैं।

सुबोध—जो हँसना चाहते हैं, उनके लिए साधनों का अभाव नहीं रहा करता, जीजी!

प्रभा—नहीं रहता! कैसे नहीं रहता? मैं हँसना चाहती हूँ, पर कहाँ हँस पाती हूँ!

सुबोध—वाह जीजी, तुम तो बड़ी आसानी से हँस सकती हो।

प्रभा—कैसे ?

सुबोध—कैसे क्या ? तुम नारी हो और नारी सहन शक्ति में अद्वितीय है।

प्रभा—सहना ! सहना भी कोई अच्छी बात है, कोई वीरता है !

सुबोध—हाँ, वह वीरता है, पर एक शर्त के साथ।

प्रभा—क्या शर्त ?

सुबोध—शर्त यह है कि सहनेवाला अज्ञानी न हो। अज्ञानी वीर हो सकता है, पर उसकी सहन शक्ति वीरता नहीं है।

प्रभा—यह सब दर्शन शास्त्र की बातें हैं। हर आदमी शास्त्र नहीं पढ़ता, सुबोध !

सुबोध—अच्छा जीजी, शास्त्र की बात न सही, अपनी बात तो सब सुनते जानते हैं। लो देखो, गाँव से चिट्ठी आई है।

प्रभा—गाँव से चिट्ठी आई है ? क्या लिखा है ?

सुबोध—लिखा है, अपने मोहल्ले में जो सबसे पुराना मकान था, वह गिर गया है।

प्रभा—(चौंककर) गिर गया ! कोई मरा तो नहीं ?

सुबोध—पत्र में लिखा है, हताहतों की संख्या पच्चीस है।

प्रभा—क्या ! क्या कहा—पच्चीस ...

सुबोध—हाँ, जीजी ! उनमें चार तो चारपाइयाँ हैं, जो बिल्कुल चूरा हो गई हैं। पाँच कुरसियाँ हैं, जिनके हाथ-पैर टूट गए हैं। पाँच ट्रंक पिचक गए हैं।

प्रभा—(हँस पड़ती है) सुबोध, तू अपनी आदत नहीं छोड़ सकता। बाप रे, मेरे तो प्राण निकल गए थे !

सुबोध—सुनते जाओ, जीजी ! ईंटें अभी गिनी जा रही हैं

और रास्ता बन्द हो जाने के कारण जो गन्दगी पैदा हो गई है, टाउन एरिया-कमेटी उससे लाभ उठाने का पूरा निश्चय कर चुकी है। बीमारी फूट निकलने की पूरी आशा है और उनके द्वारा बढ़ती हुई जनसंख्या कुछ कम हो सकती है।

प्रभा—(हंसती हुई) और ?

सुबोध—और काली गाय का बछड़ा बिल्कुल सफेद है।

प्रभा—सच !

सुबोध—जी, हाँ ! सामने वाली चाची के पोते का विवाह इसी दूज को है।

प्रभा—अरे, उसका विवाह होगा ! अभी कल तक तो वह मेरे साथ गेंद तड़ी खेला करता था।

सुबोध—लेकिन जानती हो, वह 'कल' कितनी दूर चली गई है। पाँच वर्ष से तो हम गाँव ही नहीं गए।

प्रभा—(सहसा सुस्त पड़ जाती है) हाँ, सुबोध ! समय का कुछ पता नहीं है। (सांस लेकर) एक दिन······(गला रुँधता है)

सुबोध—जीजी, क्या हुआ ! अरे, तुम तो लेट गई ! क्या सर्दी लगती है ? लो, यह कपड़ा ले लो और हाँ, हार्लिक्स का दूध ले आऊँ ?

प्रभा—नहीं सुबोध···(सुसकती है)

सुबोध—दूध तो पीना ही होगा, जीजी ! माँ की याद आ गई है, तो क्या आत्महत्या करोगी ? तुम्हारी स्वर्गीया माँ इसलिए तो तुम पर जीने का दोहरा भार है।

प्रभा—(सुबकती रहती है) नहीं सुबोध, नहीं, मेरे जीने का अब कोई लाभ नहीं है।

सुबोध—लाभ तो करने से होता है, जीजी ! माँ मर गई है, तो मुझे भी मर जाना चाहिए, यह तो कोई तर्क नहीं है। और

फिर मरने-जीने वाली माँ से बढ़कर और भी तो माँ हैं, उनके लिए क्या जीना आवश्यक नहीं है ?

प्रभा—सुबोध, तू मुझसे छोटा है; पर तेरा स्नेह इतना गाढ़ा है कि उससे छुटकारा नहीं मिलता। आखिर तू मुझमें इतनी ममता क्यों रखता है ?

सुबोध—जीजी, मुझे न किसी से ममता है, न मोह ! हाँ, जीवन पर मेरा पूरा लालच है। जीवन के किसी अंग का लालच नहीं, समूचे जीवन का लालच ! इसलिए कहता हूँ, जीवन हमें मिला है जीने के लिए, अन्त तक जीने के लिए।

प्रभा—(सांस लेकर) फिर वही दर्शनशास्त्र की बातें बकेगा। सुनते सुनते प्राण थक गए।

सुबोध—थके हुए प्राणों में ताज़गी पैदा करने के लिए हार्लिक्स का दूध तैयार है, जीजी !

प्रभा—अब देर हो गई, सुबोध, बहुत देर हो गई। मैं अब जाऊँगी। मेरा बुलावा आ गया है।

सुबोध—किसका बुलावा आया है, जीजी ?

प्रभा—अन्धकार के उस पार रह-रहकर कोई मुझे पुकार रहा है।

सुबोध—वह तो तुम्हारा अपना स्वार्थ है, जीजी ! तुम अपने को इतना महत्त्व देती हो कि वह तुम्हारे पैरों की जंजीर बन गया है।

प्रभा—सुबोध, तुम्हारी बात मैं नहीं समझ पाती। लेकिन मैं जानती हूँ, वह मेरी माँ का स्वर है। मैं अपनी माँ का चिर-परिचित सुन्दर मुख स्पष्ट देख रही हूँ। वही गौर वर्ण, वही काली आंखें और वही घनी केशराशि...सुबोध, कितना मोहक रूप है ! कितनी स्नेहपूरित आँखें हैं ! नहीं, मैं जाऊँगी, मैं अवश्य जाऊँगी, मैं नहीं रहूँगी...(धीरे-धीरे शब्द अस्पष्ट होते हैं

और प्रभा संज्ञाहीन हो जाती है)

सुबोध—(एकदम) जीजी ! (प्रतिध्वनि गूंजती है) जीजी ! जीजीऽऽ (सहसा शान्त स्वर) तो जीजी फिर संज्ञाहीन हो गई ! कैसी विडम्बना है। प्रतिक्षण प्रत्येक मनुष्य सहारा मांगता है। अकेला वह चल ही नहीं सकता। देखूँ, पानी है। (छींटे देता है और पुकारता है) जीजी, जीजी, देखो तो, यहां कोई नहीं है, केवल मैं हूँ।

(मां और पिताजी का शीघ्रता से प्रवेश)

माँ—क्या है रे ? क्यों हल्ला मचा रखा है ?

पिता—अरे, प्रभा लेटी है। क्या हुआ इसे, सुबोध ?

सुबोध—पिताजी, जीजी अपने से डरकर बेहोश हो गई हैं। आप इन्हें देखिए। मैं डाक्टर को बुलाता हूँ।

माँ—डर गई ! मैं इसे अच्छी तरह जानती हूँ। सब त्रिया-चरित्र है। मैंने तुमसे कितनी बार कहा, लड़की अब सयानी हो गई है, इसके हाथ पीले कर दो···

पिता—हाथ पीले कर दूँ, जैसे वर मेरे घर के बाहर बैठा है और फिर आजकल की लड़कियों के लिए···

माँ—अजी, बस रहने दीजिए। आजकल की लड़कियाँ···

पिता—मैं कहता हूँ, पहले उसे देखो।

माँ—देख लिया। मैं उसे अच्छी तरह जानती हूँ। उसे कुछ नहीं हुआ है, केवल···

पिता—केवल क्या ?

माँ—अजी, सब बहानेबाजी है···

पिता—(एकदम) क्या बकती है !

माँ—(चिढ़कर) मैं बकती हूँ···

(सुबोध का डाक्टर के साथ शीघ्रता से प्रवेश)

सुबोध—इधर आ जाइए, डाक्टर साहब, इधर।

डाक्टर—अच्छा, यह है। हाँ, तनिक रोशनी तेज कीजिए। हूँ...हृदय की गति तीव्र है। रक्त उत्तेजित है। शक्ति क्षीण है। देखो यह दवा सुँघाओ...सूँघो बेटी। (अस्फुट स्वर) हाँ, क्या है बेटी, बोलो, तुम ठीक हो न ?

प्रभा—(सांस खींचकर) माँ, मैं आ रही हूँ। तुम चिन्ता मत करो। मैं तुमसे अलग नहीं रह सकती।

डाक्टर—क्या इनकी माँ नहीं है ? (सन्नाटा गूँजता है) ओः, यह बात । कोई भय नहीं। रोग मानसिक अधिक है। कहीं बाहर ले जाना अच्छा होगा। दवा लिख देता हूँ। हाँ, खाना अच्छा दीजिए—क्रीम, बटर, फ्रूट्स। मैं जानता हूँ, खर्च पड़ता है; लेकिन रोग भी ऐसा ही है। क्या किया जाय। हम लोग पहले गलती करते हैं, फिर ये क़ीमती वस्तुएँ खरीदनी पड़ती हैं। लड़की स्नेह माँगती है, माँ का स्नेह अथवा साथी का स्नेह अर्थात् संवेदना। देखो इसे अपना महत्त्व मालूम होना चाहिए। समझे, अपना महत्त्व। आदमी बहुत दुर्बल है। इस बच्ची का कसूर नहीं है। बड़े से बड़ा आदमी दुर्बल होता है।

पिता—ठीक है डाक्टर साहब, आप ठीक कहते हैं। मैं भी...

सुबोध—(बात काटकर) डाक्टर साहब, दवा अभी देनी है ?

डाक्टर—नहीं ! अब दवा की कोई जरूरत नहीं है। मैं इन्जेक्शन लगा देता हूँ। कल मेरे पास आइएगा। मैं कुछ विटामिन्स लिख दूँगा, पर असली दवा तो स्नेह है। इसे स्नेह चाहिए। हां, जरा गरम पानी मँगवा दीजिए।

माँ—(जाते हुए दूर से) इन्जेक्शन, फल, दुर्बलता, माँ का स्नेह, सब शरारत है, मुझे बदनाम करने की चाल है। (हलका रुदन) हाय रे, मेरा भाग्य फूट गया, मुझे कहीं सुख नहीं ! अब सैकड़ों रुपए खर्च होंगे। मेरा घर तबाह होगा...

सुबोध—(तेजी से आता और जाता है) तुम आराम करो, माँ, आराम। मैं सब-कुछ देख लूँगा।

दूसरा दृश्य

दिवाकर—तो बात यहाँ तक बढ़ गई है।

सुबोध—हाँ, दादा ! मैं नहीं जानता, कल क्या होने वाला है। जीजी का रोग निरा मानसिक है। इसलिए उनकी पीड़ा घनी है और इसीलिए उनपर अत्याचार भी अधिक होता है।

दिवाकर—वह तो होना ही चाहिए। पर इस बारे में मैं क्या कर सकता हूँ, सुबोध ?

सुबोध—क्या कर सकते हो, यह तो तुम्हीं जानते हो। मैं तो केवल सुझा सकता हूँ और मुझे मन की बात कहने में तनिक भी लज्जा नहीं है। वह मैं तुमसे कह चुका हूँ। जीजी मुझसे बड़ी हैं, परन्तु स्नेह और संवेदना के अभाव में उसकी जीवन-सरिता सूख गई है।

दिवाकर—सुबोध, एक तुम्हारी जीजी ही नहीं, न-जाने कितने पुष्प स्नेह और संवेदना के अभाव में असमय मुरझा जाते हैं !

सुबोध—पर दादा, व्यक्ति इतना निर्बल क्यों है ?

दिवाकर-क्योंकि वह अपने को बहुत महत्त्व देता है और फिर उस महत्त्व को दूसरों की शक्ति के सहारे प्रकट करना चाहता है। अपनी शक्ति पर उसे तनिक भी विश्वास नहीं होता।

सुबोध—दादा, क्या इस दुर्बलता से बचने का कोई उपाय नहीं है ?

दिवाकर—उपाय क्यों नहीं है। मैं तो समझता हूँ, यदि हम व्यक्ति को महत्त्व न देकर मनुष्य को अधिक महत्त्व दें, तो समस्या बहुत-कुछ सुलझ सकती है।

सुबोध—सच, दादा ! जितना स्पष्ट सत्य मैंने आपकी वाणी

में सुना, उतना कहीं और नहीं। मुझे आशा है, आप मेरी बात मान लेंगे।

दिवाकर—(चकित) क्या बात।

सुबोध—यही कि आप जीजी को अपनी राह का राही बना लें···

दिवाकर—(एकदम) सुबोध, किसी पर दया करना पाप है।

सुबोध—व्यक्ति पर दया करना पाप है, पर मनुष्य को मनुष्यता की दीक्षा देना किसी भी युग में पाप नहीं माना जा सकेगा।

दिवाकर—सुबोध!

सुबोध—दादा!

दिवाकर—तुम मुझे निरुत्तर करना चाहते हो, सुबोध! परन्तु जानते हो, तर्क स्वयं प्राणहीन है।

सुबोध—जानता हूँ, तभी तो मैंने तर्क का रास्ता छोड़कर ठोस कर्म का मार्ग अपनाया है। मैं जीजी को आत्महत्या नहीं करने दूँगा। नहीं दादा, मेरे रहते मनुष्य का ऐसा अपमान असम्भव है।

दिवाकर—(व्यंग से) मनुष्य का अपमान! सुबोध, भगवान के रहते तुम इतना अहम् कैसे निभा सकते हो?

सुबोध—फिर वही तर्क का मार्ग, दादा! भगवान को लेकर मैं किसी से बहस नहीं कर सकता। परन्तु इतना मुझे जान पड़ता है कि जीवन की पूजा भगवान की पूजा है। फिर भी दादा, मैं आपसे आग्रह करने नहीं आया। मेरी बात मानने को आप बाध्य नहीं हैं।

दिवाकर—(धीरे से) यही तो मुसीबत है। बाध्य होता, तो कभी का मान लेता। स्वतंत्र हूँ, तभी सोचना पड़ता है।

सुबोध—दादा, आपकी बात नहीं समझ सका। आप भी

दिन पर दिन रहस्य-मय होते जा रहे हैं। आप क्या कहना चाहते हैं ?

दिवाकर—कुछ नहीं, सुबोध कुछ नहीं ! ऐसा लगता है, जैसे सीता की भाँति मेरी बुद्धि को अग्नि-परीक्षा देनी पड़ेगी।

सुबोध—(मुस्कराकर) ना दादा, सीता की भाँति अग्नि-परीक्षा न देना। न-जाने कब कोई दुर्मुख धोबी उसे मानने से इन्कार कर दे और फिर राम की भाँति तुम्हें भी अपनी बुद्धि-रूपी सीता को निर्वासित करना पड़े !

दिवाकर—(हंस पड़ता है) सुबोध, तुम हँसना कभी नहीं भूलते !

सुबोध—दादा, बचपन में नानी एक कहानी सुनाया करती थी कि किसी राजकुमार के प्राण किसी मछली की नीली आँख में रहा करते थे। उसी प्रकार मेरे प्राण हँसी में रहते हैं। लेकिन हाँ, दादा, जीजी को बुला लूँ ?

दिवाकर—(चकित) जीजी को क्यों ?

सुबोध—नियुक्ति से पहले इण्टरव्यू नहीं करोगे। बैठो, मैं अभी आता हूँ।

दिवाकर—सुबोध, ठहरो तो सुबोध...(उठकर जाता है)

सुबोध—(दूर से आता स्वर) अभी आता हूँ, दादा ! (सुबोध का स्वर दूर होता जाता है और फिर पास आता है। किवाड़ खोलने का स्वर) जीजी, जीजी ! अरे यहाँ तो जीजी नहीं हैं जीजी, जीजी ! जीजी कहाँ गई ? जल्दी-जल्दी चलने और रह-रहकर 'जीजी' 'जीजी' पुकारने का स्वर जीजी, जीजी !

(माँ का जल्दी से प्रवेश)

माँ—सुबोध, क्या बात है ?

सुबोध—(एकदम सम्हलकर) बात ! कुछ नहीं माँ कुछ नहीं। एक पुस्तक ढूँढ़ रहा था। दिवाकर को देनी है वह

बैठक में बैठा है ? जाता हूँ। (हँसकर) माँ चाय बनाई है ? पर रहने दो, रहने दो ! हम अभी जा रहे हैं।

माँ—सुबोध, जरा ठहर ! मैं पूछती हूँ, क्या बात है ? उस लड़की के पीछे तूने अपना क्या हाल कर डाला है ? सच बता, इतने फल और ये दवाइयाँ कहाँ से आती हैं और तू इतना दुर्बल क्यों होता जा रहा है ?

सुबोध—(हँसकर) दुर्बल ! माँ, जान पड़ता है, तुम्हारी आँखों में कुछ रोग हो गया है। डाक्टर को दिखाकर अभी चश्मा ले लेना ठीक होगा। कल चलेंगे। अब तो मुझे जाना है।

माँ—सुबोध, मजाक मत कर।

सुबोध—माँ, तुम्हारा बेटा हूँ। बेटा यदि माँ का ख़याल नहीं रखेगा, तो और कौन रखेगा ?

माँ—अरे, बस रह भी ! तू मेरा खयाल रखेगा ? तू कुछ करता; तो आज यह दिन क्यों देखना पड़ता। मैं कह देती हूँ, तू इतना आगे मत बढ़। प्रभा तेरी सगी बहन नहीं है। दुनिया तुझे बदनाम कर देगी।

सुबोध—(काँपकर) माँ !

माँ—(उसी तरह) चौंकता क्यों है ? मैं जो-कुछ कह रही हूँ, ठीक कह रही हूँ। तू एक दिन सिर पकड़कर रोएगा।

सुबोध—(दृढ़ क्रुद्ध स्वर) माँ, तुम मेरी माँ हो। आज कहा सो कहा आगे इस बारे में कुछ मत कहना समझीं ?

माँ—समझी रे ! तू भी लाल-पीली आँखें दिखाता है ! वह बात है, अपना कीना खोटा, तो परखनेवाले का क्या दोष है ? पर तू मुझे पोच न समझना, लड़के ! मैं आज फ़ैसला करके रहूँगी। ठहर, जाता कहां है ? प्रभा, ओ प्रभा ! प्रभा कहां है ? कमरे में तो नहीं है ! कहाँ है। प्रभा ? प्रभा, ओ प्रभा !

सुबोध—(शान्त स्वर में) सुनो तो माँ।

माँ—सुन चुकी। मैं पूछती हूँ, प्रभा कहाँ है? वह बीमार है। वह चल नहीं सकती। उससे उठा नहीं जाता; पर वह कहाँ है? मैं कहती हूँ, वह कहाँ है? क्या वह भाग तो नहीं गई? क्या उसने...

सुबोध—(चीखकर) चुप रहो, माँ!

माँ—मैं अब भी चुप रहूँ। अब भी...

सुबोध—(फिर एकदम शान्त होकर) माँ, जीजी मेरे साथ गई थीं। (गहरा संगीत)

माँ—(चौंककर) क्या कहा?

सुबोध—हाँ, आज डाक्टर ने बुलाया था। लौटती बार वे अपनी एक सहेली के पास ठहर गई हैं। अभी जाकर मैं उन्हें ले आता हूँ।

माँ—सुबोध मैं पागल नहीं हूँ। प्रभा तेरे साथ गई थी, तो अभी-अभी तू उसे पुकार क्यों रहा था? बता?

सुबोध—लौटकर अभी आता हूँ, तभी जीजी के सामने तुम्हारी बात का जवाब दूँगा।

माँ—(जोर से) नहीं, तुझे अभी लौटना होगा, अभी मेरी बात का जवाब देना होगा, सुबोध!

(सुबोध का दूर होता स्वर फिर पास आता है)

सुबोध—दादा, जल्दी मेरे साथ चलो। जीजी कहीं चली गई।

दिवाकर—क्या?

सुबोध—सच दादा! वे दुखी होकर चली गई। घर छोड़कर चली गई। हाय रे, मानव! दादा, आप नदी की ओर जाओ, मैं स्टेशन की ओर जाता हूँ अभी, अभी, दादा!
(स्वर दूर होता जाता है)

तीसरा दृश्य

सुबोध—(शान्त धीमा स्वर) जीजी मैं नहीं जानता था, तुम इतनी कायर हो। यदि दिवाकर दादा ज़रा भी देर कर देते, तो न-जाने क्या हो जाता है।

प्रभा—(थका स्वर) जो कुछ-होता, वह ठीक ही होता, सुबोध ! मुझे अब भी लगता है, काश कि तुम मेरा पीछा न करते।

सुबोध—पर ऐसा क्यों, जीजी ?

प्रभा—क्योंकि मैं जीना नहीं चाहती।

सुबोध—कैसी अनोखी बात है ! तुम मरना चाहती हो, क्योंकि तुम्हारी कोई क़द्र नहीं करता ! परन्तु तुम जानती हो जीजी, तुम स्वयं क़द्र नहीं करतीं ! तुम स्वयं अपने जीवन को इतना तुच्छ समझती हो कि उसको आत्म-हत्या द्वारा मिटा देना चाहती हो !

प्रभा—सुबोध, तू क्या चाहता है ?

सुबोध—कुछ नहीं जीजी, केवल यही कि अपने हाथों अपना अपमान मत करो।

प्रभा—(थका स्वर) शायद तू ठीक कहता है, पर...

सुबोध—पर क्या, जीजी ?

प्रभा—यही कि अब मैं उस घर में नहीं जाऊँगी।

सुबोध—उस घर में जाना या न जाना, यह सब तुम्हारी इच्छा पर निर्भर करता है, जीजी ! तुम नहीं जाना चाहतीं, तो तुम्हारे साथ कोई ज़बरदस्ती नहीं कर सकता।

प्रभा—लेकिन मैं करूँगी क्या ? मैं कर ही क्या सकती हूँ ?

सुबोध—करने को दुनिया में काम की कमी नहीं है, जीजी ! मानता हूँ, तुम्हें संघर्ष करना होगा ; पर संघर्ष जीवन है और

संघर्ष करते हुए जीवन भी देना पड़े, तो वह जीवन की प्रतिष्ठा ही होगी, जीजी !

प्रभा—सुबोध, तुम पुरुष हो। तुम संघर्ष कर सकते हो...

सुबोध—(हंसकर) पुरुष और स्त्री ! जीजी, वे दोनों मनुष्य हैं, और मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि वह जीना सीखे। मैंने दादा से कहा, उनके आश्रम में एक अध्यापिका की आवश्यकता है। चाहो तो कल से वहां जा सकती हो।

प्रभा—मैं अध्यापिका बनूँ ! क्या मैं अध्यापिका बन सकती हूँ ?

सुबोध—क्यों नहीं बन सकतीं। अध्यापिका बनकर तुम घर के कारागर से मुक्ति पा सकोगी।

प्रभा—सच ?

सुबोध—निस्सन्देह।

प्रभा—तो फिर मैं आज ही वहां जाने को तैयार हूँ। अभी। इसी वक्त। मैं मुक्ति चाहती हूँ। मैं उस दम घोंटनेवाले वातावरण में फिर नहीं जाना चाहती।

सुबोध—तो चलो, जीजी ! पर जाने से पहले एक बात मैं कहे देता हूँ घर न जाने की जिद करना भी दुर्बलता है। तुम्हें भय है, तुमने घर से आकर ठीक नहीं किया। तुम उस सत्य को अस्वीकार करने के लिए घर जाने से डरती हो।

प्रभा—सुबोध, तू यह क्या कहता है ?

सुबोध—तुम्हीं बताओ, मैं गलत कहता हूँ। भागना सदा भय के कारण होता है।

प्रभा—(कांपकर) सुबोध...

सुबोध—(दृढ़ स्वर में) जीजी ! (क्षणिक संगीत)

प्रभा—(शान्त) सुबोध, तू ठीक कहता है। मैं घर चलूँगी।

(इसी समय कोई सुबोध को पुकारता है)

स्वर—सुबोध !

(दो व्यक्तियों के आने का स्वर । मां और पिता दिखाई देते हैं)

सुबोध—(धीरे से) आखिर वे लोग आ गए । जीजी, तुम्हारी अग्नि-परीक्षा का अवसर है। अब तुम्हें जीवन की चुनौती स्वीकार करनी है। (जोर से) आओ जीजी, चलें।

पिता—तो आप लोग यहाँ हैं ! अब किधर की तैयारी है ?

सुबोध—घर जा रहे हैं, पिता जी !

पिता—(व्यंग से) घर जा रहे हैं, लेकिन प्रभा के लिए मेरा घर बन्द हो चुका है।

सुबोध—बन्द हो चुका है, तो ये नहीं जायँगी। वे यहीं रहेंगी। आइए, हम चलें।

पिता—सुबोध, मैं पूछना चाहता हूँ, आखिर यह सब क्या है ? आखिर तुम क्या चाहते हो ?

सुबोध—मैं ? मैं तो कुछ नहीं चाहता। डाक्टर ने बताया है, जीजी के लिए ऋतु-परिवर्तन आवश्यक है। उसी का प्रबन्ध मैंने कर दिया है। दिवाकर दादा के कन्या-गुरुकुल में एक गवर्नेस की जरूरत थी। उसी पद पर जीजी काम करेंगी।

पिता—सुबोध !

सुबोध—जी, पिताजी !

पिता—मैं जानना चाहता हूँ, प्रभा की जिम्मेदारी तुम पर है या मुझ पर ?

माँ—ठहरो, पहले मैं इन रानी जी से पूछता हूँ, ये आज दिन-भर कहाँ रही हैं और अब किस बिरते पर घर लौट रही थीं ? ना बाबा, इस उमर में आजादी देना साँप के मुँह में उँगली देना है। माँ-बाप की नाक काटते हुए इसे जरा भी झिझक नहीं हुई, यह जरा भी नहीं ठिठकी। अरे, माँ दूसरी

थी, पर बाप तो वही था। चल इधर, क्या आँखें फाड़ कर देख रही है। घर चल। देखूँगा, तू अब कहाँ जाती है...

सुबोध—जीजी, अब कहाँ जाती हैं और कहाँ नहीं जाती हैं, इसकी चिन्ता वे स्वयं कर लेंगी, माँ! आप उस ओर से निश्चिन्त रहिए। (मुकड़र) जीजी, तुम यहीं ठहरो। दादा से पूछकर मैं कल तुम्हें गुरुकुल ले चलूँगा।

पिता—सुबोध, तुम सीमा से बढ़ रहे हो।

सुबोध—सीमा की स्वयं कोई सीमा नहीं है, पिताजी! उसका निर्माण मनुष्य स्वयं करता है। जीजी घर में रह कर आत्महत्या नहीं कर सकतीं। उन्हें यह जीवन जीने के लिए मिला है। वे अन्त समय तक जीएँगी। जीवन स्वयं एक सीमा है। जीवन का सम्मान सीमा की प्रतिष्ठा है।

पिता—(एकदम) सुबोध, तू मुझे उपदेश देता है!

सुबोध—नहीं, पिताजी! किसी को उपदेश दूँ, इतना अभिमानी मैं नहीं हूं: पर जो जीना चाहते हैं, उनकी सेवा करना मैं अपना सौभाग्य मानता हूं। जीजी अपनी जीवन की रक्षा के लिए इस नरक से बाहर निकलना चाहती हैं। ऐसी हालत में मै उन्हें कैसे रोक सकता हूँ?

पिता—(तीव्र स्वर) मेरा घर नरक है!

सुबोध—निस्सन्देह! जीजी के लिए वह नरक है।

पिता—(काँपता है) सुबोध!

माँ—देख लीजिए, इस लड़की ने इसपर किस तरह जादू किया है!

सुबोध—क्षमा करिए। जो बात सच है, उस पर मैं पर्दा नहीं डाल सकता। आप उसे किसी का जादू कह लीजिए अथवा और कुछ, बात वह सच्ची है।

पिता—(स्वर गिरता है) सुबोध, तू एक बार फिर घर तो चल।

सुबोध—मैं ? मैं तो चल ही रहा हूँ।

पिता—मेरा मतलब प्रभा से है। प्रभा बेटी...

प्रभा—पिता जी! अब देर हो चुकी है। मैं अब नहीं रुकूँगी।

पिता—(करुण स्वर) प्रभा, मैं तुम्हारा पिता हूँ।

प्रभा—पिताजी...

पिता—लौट चलो, बेटी!

प्रभा—नहीं, पिताजी! मैं अब नहीं लौट सकती। जीवन के प्रति मेरा मोह अब इतना बढ़ गया है कि मैं आत्महत्या नहीं कर सकती। हाँ, इतना विश्वास मैं आपको दिला सकती हूँ कि मैं कोई ऐसा काम नहीं करूँगी, जिसके कारण स्वर्ग में बैठी हुई मेरी माँ को लज्जित होना पड़े।

पिता—तुम्हारा यह दृढ़ निश्चय है, बेटी ?

प्रभा—निसन्देह, पिताजी!

पिता—और अन्तिम ?

प्रभा—जी, पिताजी! मैं अब नहीं लौटूँगी। आप लौट जाइए। सुबोध मुझे छोड़कर लौट आवेगा।

(दिवाकर का प्रवेश)

दिवाकर—सुबोध को उनके साथ ही जाने दो, प्रभा! उसका सहारा चाहना अपनी शक्ति का अपमान है। जो अकेला चलता है, वही शक्तिशाली है!

प्रभा—(उच्छ्वासित स्वर) दिवाकर!

सुबोध—(स्नेह और आदर से) दादा!

श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

श्री 'अज्ञेय' आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार हैं। यह कभी सुविख्यात क्रान्तिकारी थे। इन्होंने जेल-जीवन में अनेक गंभीर विषयों का अध्ययन किया है। दर्शन-शास्त्र पर तो आप की विशेष रुचि है इसलिए ही इनकी कहानियों तथा अन्य रचनाओं पर दर्शन की गहरी छाप है। अध्ययन के अतिरिक्त आपका जीवन-अनुभव भी बहुत गंभीर है। यही कारण है कि इनकी रचनाओं में जीवन के कटु अनुभव तथा देश की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों पर अच्छा अध्ययन मिलता है। भावों में तो है ही, भाषा में वेदना तथा क्रांति आदि भावों के कारण तीव्रता और मार्मिकता मिलती है।

'अज्ञेय' का साहित्य दार्शनिक भावों से ओत-प्रोत होते हुए भी सरस और मधुर है। यह कवि, उपन्यासकार और सफल कहानीकार हैं।

श्री अज्ञेय का 'कवि-प्रिया' भाव पूर्ण ध्वनि-नाट्य है। जिसमें कवि-पत्नी की आंतरिक आत्म-वेदना का चित्र है जो अपने एकाकीपन को बागवानी में भुला देना चाहती है किन्तु आस-पास का मधुर-जीवन उसके हृदय में एक हूक-सी उत्पन्न कर देता है जीवन का यह आत्म क्षोभ कभी-कभी 'कवि-प्रिया' की आँखों की भीगी पलकों में झलकने लगता है। वह अपनी आत्मिक शांति के लिए 'प्रिया नहीं माता; स्नेह और आदर की अपेक्षा में रहने वाली नहीं स्नेह देने वाली' का उच्चासन ग्रहण कर लेती है।

पात्र

शान्ता—कवि दिवाकर की पत्नी ।

सुधा—शान्ता की सहेली, सुरेश की पत्नी ।

मालती—शान्ता की सहेली ।

सुरेश—कवि-दम्पति का बन्धु, सुधा का पति ।

अशोक—एक और बन्धु ।

दिवाकर—कवि; तथा बालक, माली, बेयरा आदि ।

कविप्रिया

[बंगले के सामने बगीचे के एक भाग में, शांता और माली]

माली—पानी तो हम बराबर देत रहेन, माँजी ! मगर लू—

शांता—(जिसके स्वर में अपार धैर्य और एक स्निग्ध अन्तर्मुखीन भाव है) रहने दो, माली ! ऐसे बहाने मत बनाओ। तुम्हें आदत है सब चीज दैव पर छोड़ने की ? 'दैव नहीं बरसेगा, तो बीज नहीं जमेगा।' ऐसे भी तो देश होते हैं, जहाँ दैव कभी बरसता ही नहीं—वहाँ क्या पौधे ही नहीं होते।

माली—(मानो अपने बचाव में) माँजी—

[निकट आती हुई हँसती हुई आवाजें: मालती, सुधा और सुरेश]

सुधा—यह रही, बगीचे में। शान्ता !

सुरेश—नमस्कार, शान्ता भाभी ! बागवानी हो रही है ?

शान्ता—अरे सुधा, सुरेश भैया ! आइए। (सकपकाती-सी) मेरे हाथ मट्टी के हो रहे हैं—माली, दौड़कर जरा देवीसरन से कुर्सियाँ डाल देने को कहो तो—

[माली के खुरपी-फावड़ा फेंकने का शब्द]

मालती—जी हाँ, मेरी तरफ तो देखेंगी क्यों श्रीमती शान्तादेवी—उर्फ़ कविप्रिया !

शान्ता—ओहो, मालती ! जरा सामने तो आओ, मैंने तो देखा ही नहीं !

मालती—जी, यही तो कह रही हूँ। मुझे क्यों देखने लगीं ! मैं न कवि, न बुलबुल, न गुलाब का फूल—

शान्ता—(हैरान-सी) आखिर मामला क्या है ?

सुधा—(धीरे-से) न सही गुलाब का फूल, मालती का सही !

[सब का खिलखिलाना]

मालती—(डपट कर) चुप रहो जी ! (शान्ता से) अच्छा, कविप्रिया देवी जी, पहले तो मिठाई खिलाइए—

सुरेश—नाम ठीक रखा है आपने—कविप्रिया देवी ! आपको भी कवि होना चाहिए था।

मालती—मुझे खाहमखाह ? कवि तो जो हैं, सो हई हैं। पूछो न उनकी देवी जी से—

[बीच-बीच में कुर्सियाँ रखने-घसीटने का शब्द]

शान्ता—यह पहेली क्या है आखिर ? सुधा, तुम्हीं बताओ, क्या बात है। लेकिन पहले सब लोग बैठ तो जाओ।

[कुर्सियाँ खींचने और बैठने का शब्द]

मालती—अब तुम बनो मत, शान्ता ! कल तुम्हारे कवि जी सम्मेलन में सभापति रहे। उनके कविता-पाठकी सारे शहर में धूम है—तुमने तो हमें कभी बताया ही नहीं कि वह कविता भी लिखते हैं—

सुरेश—अच्छा शान्ता भाभी, वह सारे प्रेम-गीत अकेले तुम्हीं को सुनाते होंगे और छिपाकर रख लेते होंगे ?

सुधा—और शान्ता जी तो भला किसी को बताने क्यों लगीं अपनी सूम की दौलत !

मालती—तभी तो आज हम दल बाँध कर तुम्हें देखने आए हैं।

शान्ता—(कुछ हँसकर) तो मुझे क्यों देखने आई—मैं तो वही-की वही शान्ता हूँ—अनपढ़, बेसमझ ! मुझे तो कविता छू भी नहीं गई। और वह तो इस समय यहाँ हैं नहीं, न जाने कब आएँगे। खैर, तुम लोग बैठो, वह जब भी आएँ—

मालती—नहीं देवी जी, यों नहीं। हम आप ही को देखने आए हैं, आपके दर्शन करने, आप से कविता सुनने।

शान्ता—(मानो अवाक्) मुझ से—कविता !

मालती—जी हाँ, आपकी कविता ! और आपके उनकी कविता। सुर से—ठीक वैसे ही, जैसे 'वह' आपको अकेले में सुनाते होंगे—

सुधा—जी हाँ, वैसे ही !

शांता—तुम लोग सब पागल हो गई हो क्या ?

मालती—यह लो। अभी अपने को अनपढ़ बता रही थीं अब हमें पागल बता रही हैं !

शांता—मैंने कहा तो, वह घर नहीं हैं; आवेंगे तो कविता सुन लेना।

सुधा—आप तो घर पर हैं न, यह पहले बताइए ?

शांता—मैं घर पर न हूँगी, तो और कहाँ हूँगी—उनके साथ सम्मेलनों में घूमूंगी ? मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता, मैं यहीं ठीक हूँ घर में।

सुधा—तो तुम कभी कहीं नहीं जाती ?

शांता—न। मुझे क्या करना है बाहर ? यहीं बगीचे में टहल लेती हूँ। मुझे बगीचे में काम करना अच्छा लगता है।

सुधा—बुरी बात है शान्ता ! तुम एकदम बाहर ही नहीं निकलतीं ?

मालती—हाँ, यह तो बहुत बुरा है। जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि, और कवि की स्त्री घर से बाहर न निकलें ! कवि-प्रिया बन्दिनी होगी, यह हमने कभी नहीं सोचा था !

शांता—अब बस भी करो, मालती ! बन्दिनी काहे की ? वह कवि हैं, वह बाहर जायेंगे; मुझे घर में कम काम है ?

मालती—ओह, मैं समझी। (सुधा से) बात यह है कि अगर कवि भी घर ही रहेंगे, तो उनकी काव्य-धारा फूटेगी कैसे ? प्रिया हर वक्त पास रहेगी, तो कवि का चिरविरही हिया तो

चुप ही हो जायगा ! और हम संसारियों की तरह प्रिया को साथ लेकर वह घूमे-फिरेगा, सिनेमा देखेगा; तब तो उसकी कविता का स्रोत ही सूख जायगा। प्रिया को निर्वासन देकर ही तो कवि कवि बन सकता है—उनका जीवन बलि देकर ही काव्य-साधना कर सकता है !

शांता—तुम रखो अपना पांडित्य ! मैं यह सब-कुछ नहीं जानती।

सुधा—अच्छा, ये बहाने रहने दो अब। यह बताओ कि दिवाकर—बाबू—कवि जी—आवेंगे कब ? हम उन्हींसे उनकी कविता सुन लेंगे।

शांता—सो मैं क्या जानूं ? एक बार घर से निकले, तो कब लौटेंगे, यह भगवान भी नहीं बता सकते। मालती कह रही थी न, जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि। सो रवि तो सुबह का निकला साँझ को घर लौटता ही है, पर कवि का क्या ठिकाना !

मालती—तुम रूठतीं नहीं ?

शांता—क्यों ? उन्हें कुछ काम रहता होगा—

मालती—और तुम्हें कोई काम हो, कहीं जाना हो तो ?

सुधा—चाय पीकर गए हैं ?

शांता—(कुछ रुककर) नहीं, चाय पीकर तो नहीं गए। लेकिन मैं तो घर पर ही हूँ, जब आएंगे, तभी चाय हो जायगी। मुझे तो कहीं जाने-आने का काम होता ही नहीं—यहीं बगीची में काम कर लेती हूँ; रूठने की बात ही क्या है ?

सुधा—और रात को आए तो ?

शांता—तो रात को चाय होगी—भोजन देर से हो जायगा।

सुधा—भई, वाह ! मानो बच्चा हो, जो मिल जाय, उसी में खुश !

मालती—लेकिन मुझे तो, भई, बहुत गुस्सा आता। मैं तो

कभी बात ही न करती !

शांता—(कुछ गम्भीर होकर) हाँ भई, तुम्हें शायद गुस्सा आता। या न आता, तो कम-से-कम दिखातीं जरूर ! (लम्बी सांस के साथ) लेकिन वहाँ यह सब नहीं चलता। मैं गुस्सा करूं, तो वह दुगुना गुस्सा करेंगे। रूठा वहाँ जाता है, जहाँ कोई मनाने वाला हो—जैसे माँ के साथ। (उदास स्वर) माँ के साथ मैं भी बहुत रूठा करती थी···(सहसा खिलखिलाकर) दीवार के, और कवि के, साथ भी भला रूठा जाता है !

सुधा—(विचारपूर्वक, धीरे-धीरे) अच्छा. तुम कभी रोती नहीं ? जरूर रोती होगी।

शांता—(थोड़ी देर बाद, रुक-रुककर) हाँ, रोती तो हूँ, शायद। लेकिन तुम लोगों की तरह शायद नहीं। कोई मेरे आँसू पोंछ कर मुझे मनावेगा, यह सोचकर नहीं। कभी रात में, अँधेरे में रो लेती हूँगी—अन्धकार को परचाने के लिए ! (गला भारी हो आया है)

[बालक का प्रवेश]

बालक—(निकट आता हुआ उत्सुक स्वर), माँ, माँ, मैं ज़रा साईकल चला लूँ ?

शान्ता—(सुस्थ होकर) नहीं, बेटा, अब रात में—

बालक (मनुहार के साथ) हाँ, माँ ! यहीं थोड़ी दूर ही रहूँगा—बेयराको साथ ले जाऊँगा

शान्ता—अच्छा, जा। पर दूर न जाना।

बालक—(दूर जाता हुआ) अहा-हा ! जाएंगे–जाएंगे !

[बालक के उछलते हुए जाने की ध्वनि]

शान्ता—(मानो स्वगत) यह भी मेरे साथ कभी-कभी बहुत रूठता है, मैं मना लेती हूँ।

सुरेश—बड़ा अच्छा लड़का है। शान्ता भाभी, तुम्हारा तो

मन यही बहलाए रखता होगा।

शान्ता—हां, सो तो है ही।

सुधा—और जो तंग करता होगा, सो ?

शांता—तंग तो बच्चे करते ही हैं, पर उससे कोई तंग होता थोड़े ही है। मैं तो सोचती हूँ, मुन्ने के कारण मुझे दुनिया के हिसाब किताब से छुट्टी मिली, क्या पाया, क्या नहीं पाया, इसका लेखा-जोखा रखने की जरूरत नहीं अब मुझे। मैं समझती हूँ कि जीवन जो देता है, मैंने पा लिया...

मालती—कैसा हिसाब-किताब ?

शांता—हिसाब-किताब नहीं तो और क्या ? कहने को यह सब भावना, आकांक्षा, मन और आध्यात्म की बातें हैं, लेकिन असल में तो हिसाब-किताब ही हैं न ! कितना रंग, कितना उजाला, कितना अंधेरा, कितना प्रकाश, कितनी छाया, कितना प्यार, कितना आराम, कितना परिश्रम जीवन में मिला...जो लोग रोमांसके पंखों पर उड़ते हैं, वह भी इस हिसाब-किताब को भूलते नहीं। और इस जोड़-बाकी में अगर मुनाफा देखें, तो खुश होते हैं; घाटा देखें, तो जीवन के प्रति असन्तोष उन्हें होता है। सुधा, तुम क्या सोचती हो, मैं नहीं जानती; पर मैं तो भावना के हिंडोले नहीं झूलती। मेरा जीवन शान्त, स्थिर हो गया है क्योंकि मैं प्रिया नहीं; माता हूँ। (स्वर क्रमशः भावाविष्ट होता जाता है) मैं स्नेह और आदर की अपेक्षा में रहनेवाली नहीं, स्नेह देनेवाली हूँ। मैं सुबह से शाम तक जो-कुछ करने का है, करती जाती हूँ, उठती हूँ, जागती हूँ, खिलाती हूँ, खाती हूँ, देखती हूँ, सुनती हूँ, और मैं किसी चीज का, किसी बात का प्रतिवाद नहीं करती। प्रतिवाद कोई किसका करे ? जीवन कोई बुझौवल थोड़े ही है, वह सब से पहले अनुभव है।

सुरेश—(मानो अधिक गम्भीर बात को हंसी में टालने का यत्न

करता हुआ) जीवन बुझौवल है कि नहीं, यह तो अलग बात है; पर भाभी, तुम ज़रूर पहेली हो।

शान्ता—(उसी प्रकार आविष्ट) हूंगी, ज़रूर हूंगी! इसलिये कि मुझ में बुझौवल कहीं नहीं है। मैं सुलझाव ही सुलझाव रह गई हूँ। 'दो' पहेली है, जिसका सुलझाव है, 'एक' और 'एक'। लेकिन 'एक'? 'एक' भी पहेली है, इसलिये कि उसका आगे सुलझाव नहीं है वह निरी इकाई है होने और न होने की सीमा-रेखा! उसे सुलझाना चाहने का मतलब है उसे मिटा ही देना।

सुरेश—(प्रयासपूर्वक विषय को बदल देने के लिए) शान्ता भाभी, सामने का बगीचा तो देखा, पीछे भी कुछ बना है?

शान्ता—(संभल कर, बदले हुए स्वर में) अभी तो बन रहा है। मगर अँधेरे में दीखेगा क्या? (ज़ोर से) माली!

माली—(दूर से) हाँ, मांजी! (निकटतर) का हुकुम है मांजी?

शान्ता—उधर क्यारी में पानी लगा दिया है?

माली—हाँ, मांजी!

शान्ता—देखोगे तुम लोग? चलो।

[दूर जाती हुईं पगध्वनियां, क्रमशः दूर हटते हुए स्वर]

सुधा—(क्रमशः दूर करता हुआ स्वर) उधर चबूतरे के आस-पास तो बेला फूला होगा

सुरेश—(दूर से) अहा, यह करौंदे की झाड़ी तो बड़ी सुन्दर है। यहीं बैठकर कविजी कविता लिखते होंगे न?

शान्ता—(दूर से) सो मैं क्या जानूं कि वह कहां बैठकर लिखते हैं। लेकिन तुम लोग तो बैठो इस चबूतरे पर।

[स्वर फिर निकट और स्पष्ट हो जाते हैं]

सुधा—तभी तो मैंने तुमसे पूछा था कि तुम तो घर पर रहती हो न ?

मालती—फिर तुमने शुरू की वही बात ? कवि की प्रिया घर पर नहीं रहती। घर पर रहे, तो वह प्रिया नहीं है। आज तक कभी सुना है कि किसी कवि ने प्रिया को सामने बिठाकर काव्य लिखा हो और वह काव्य सफल हुआ हो ? कवि मन-ही-मन एक अपार्थिव प्रेम का चित्र लिये उस चित्र से जीवन का मिलान करते हुये चलता है और जीवन को घटिया पाता है। उसकी एक कल्पना की प्रिया होती है, जिसे वह सारी दुनिया में ढूंढ़ता फिरता है और कभी पाता नहीं। जीवन में जो प्रिया मिलती है, वह तो मानवी है; उसके कल्पना-लोककी देवी थोड़े ही है ! वह देवी जो सोच सकती है यानी कविकी कल्पना में, वह कोई पार्थिव प्रिया नहीं सोचती; जो कह सकती है, जैसे-जैसे प्रेम कर सकती है, वह कोई हाड़-मांस की प्रिया क्या कर पाएगी ! तभी तो कवि लोग ऐसे तोताचश्म होते हैं ! अगर उन्हें कल्पना के प्रति सच्चे रहना है, तो फिर वास्तव से तो मन फेरना ही होगा; क्योंकि वास्तव में तो जिस चीज़ को वह छूते हैं, वही पाते हैं कि निरी मिट्टी है; और मिट्टी को ही प्यार करें, तो फिर कल्पना बेचारी क्या हो ? किसी भी बड़े कवि का जीवन ले लो। उसकी सारी ज़िन्दगी एक खोज है, जिसका नतीजा केवल इतना है कि 'नहीं ! यह नहीं ! यह भी नहीं !' इसी कभी न मिटनेवाली खोज को, कभी न बुझनेवाली प्यास को, कोई कूंची से आंकता है, कोई कलम से लिखता है, कोई छन्दों में बाँधता है; और लोग देख-सुनकर कहते हैं—'कितना सुन्दर ! कितना मार्मिक ! कैसा दिव्य प्रेम !' कवि को जीवन में आनन्द नहीं मिलता; पर यश तो मिलता है, उसकी कीर्त्ति अमर हो जाती है। पर कवि की स्त्री मृत्यु के पार अमर

होने की बात तो दूर, वह तो जीवन में भी—

सुधा—भई मालती, तुमने तो कमाल कर दिया! अब तो तुम्हें किसी मीटिंग में ले जाकर मंच पर खड़ा कर देना चाहिए। ऐसी फुलझड़ी-सो जगा दी तुमने तो

मालती—तुम्हें तो हर वक्त ठट्ठा ही सूझता है। पूछो न शान्ता से। वह भी तो हमारी-तुम्हारी ही उम्र की है। कोई बात है भला कि ऐसी दार्शनिकों की-सी बातें करे? 'शान्त, स्थिर—होने और न होने की सीमा-रेखा!' हुँः, मुझे तो ऐसा गुस्सा आ रहा है इन कवियों पर कि—

सुरेश—सो तो दीख ही रहा है। लेकिन अब आप गुस्सा मत कीजिये, चाहे तो इस करौंदे की छांह में बैठकर कविता कीजिये; (सुधा से) क्यों जी, अब चलना चाहिये न?

सुधा—हाँ, बड़ी देर हुई। अच्छा, शान्ता बहन, फिर आएंगे कभी। कविजी से कह देना, कविता ज़रूर सुनेंगे।

सुरेश—नमस्ते, भाभी!

[स्वर क्रमशः दूर हटने लगते हैं]

शान्ता—हाँ, ज़रूर आना, बहन! वह होंगे, तो ज़रूर सुनाएंगे ही—तुम लोगों को। नमस्ते, सुरेश भैया!

मालती—मैं भी तो चल रही हूं भई, कि मुझे छोड़े जा रहे हो?

सुधा—(हँसती हुई) हमने सोचा, शायद तुम्हारा व्याख्यान अभी समाप्त न हुआ हो!

मालती—अच्छा, शान्ता, मेरी किसी बात का गुस्सा मत करना

शान्ता—वाह गुस्सा कैसा! फिर आना।

मालती—हाँ। नमस्ते।

[दूर पर स्वर : 'नमस्ते!' 'नमस्ते!' 'नमस्ते!']

शान्ता—(स्वगत) अब ?

[धीरे-धीरे टहलती हुई गुनगुनाने लगती है, स्वर निकट और दूर आता-जाता रहता है]

शान्ता—(गुनगुनाती हुई गाती है)

कल मुझ में उन्माद जगा था आज व्यथा निस्पन्द पड़ी,
कल आरक्त लता फूली थी पत्ती-पत्ती आज झड़ी।
कल ज्वाला थी जहाँ आज यह राख-ढंपी चिनगारी है—
कल देने की स्वेच्छा थी, अब लेने की लाचारी है!
स्वतंत्रता में कसक न थी बन्धन में उन्माद नहीं—
रो-रो जिये, आज आई हंस-हंस मरने की बारी है!
रो-रो जिये

(सहसा चुप होकर) आ गए...(ज़ोर से) बेयरा, चाय तैयार करो। अरे नहीं! (चौंककर और फिर सुस्थ होकर) ओह, अशोक!

अशोक—पहचानती भी नहीं, दीदी?

शान्ता—मैं समझी थी...

अशोक—क्या समझी थीं?

शान्ता—कुछ नहीं। आओ बैठो।

अशोक—(बैठता है) शान्ता दीदी, अंधेरे में बैठी क्या कर रही थीं?

शान्ता—कुछ नहीं। आकाश देख रही थी। मुझे साँझ के बाद आकाश देखना बहुत अच्छा लगता है। कैसे धीरे-धीरे अन्धकार घिरता आता है और धीरे-धीरे सब-कुछ पर छा जाता है···इस जीवन के, इस लोक के सब आकार मिट जाते हैं एक मौन निस्तब्धता में, और फिर दूर कितनी दूर! उदय हो जाते हैं कितने नये लोक, और उनके अपने नये आकार! लोग सूर्यास्त के रंगों को सुन्दर बताते हैं, लेकिन उससे भी सुन्दर

होता है सूर्यास्त की लालिमा का मिटना !

अशोक—रोज़ देखते-देखते ऊबतीं नहीं, एक ही दृश्य !

शान्ता—ऊबना कैसा ? यह मिटने का खेल तो नित नया है—यही तो एक खेल है, जो हमेशा नया है। और इसे देखते-देखते इन्सान विभोर होकर अपने को निरे जीवन पर छोड़ देता है हम अपने को जीवन पर छोड़ दे सकते हैं, तभी तो हम जी सकते हैं। उसका हल खोजना ही तो उसे पहेली बनाना है।

अशोक—दीदी, मैं आया, तब तुम शायद गा रही थीं—रही थीं न ? मैं सोचता हूँ, मैं यहाँ चुपचाप बैठकर गाना सुनूंगा

[ट्रे और चीनी के बर्तन का शब्द]

बेयरा—चाय तैयार है, सा'ब !

शान्ता—लो, पहले चाय पियो।

अशोक—दीदी, यही तो बात मुझे अच्छी नहीं लगती। यह भी कोई चाय का समय है भला ? और मैं कोई अजनबी तो हूं नहीं, जो खातिर करें—

शान्ता—तुम्हीं थोड़े ही पियोगे ? मैं भी तो लूंगी

अशोक—उससे क्या ? रात के नौ तो बजे हैं। इस समय आपने मेरे लिये चाय क्यों मंगाई ?

शान्ता—आपके लिये क्यों ? चाय का आर्डर तो मैं आपके आने से पहले दे चुकी थी !

अशोक—ओह, तो आप लीजिये। मैं तब तक आपका आकाश देखता हूं—मैं तो चाय लूंगा नहीं।

शान्ता—नहीं, मैं तो चाय केवल साथ के लिये पी लेती हूं मुझे भी इच्छा नहीं है। बेयरा !

अशोक—यह अच्छी रही। आपने चाय मंगाई भी थी और अब ले भी नहीं रहीं—

शान्ता—मैंने अपने लिए नहीं मंगाई थी—

[बेयरा आता है]

अशोक—तब ?

बेयरा—जी सा'ब !

शान्ता—चाय उठा ले जाओ। और बाबा वापस आ गया है न ? साइकल अन्दर रख दिया है।

बेयरा—जी। बाबा सोने जाते हैं।

[ट्रे समेटने का शब्द। जाता है]

अशोक—शान्ता दीदी, आप जो गाना गा रही थीं, वही गाइये।

शान्ता—मैं क्या गाती हूं। वह तो योंही कभी गुन-गुनाती हूं।

अशोक—जो हो…

[शान्ता बाहर की ओर जाती है, आकाश की ओर देखती है। उसका स्वर दूर से आता है]

शान्ता—अच्छी बात है। मैं तो तारे देखते-देखते कभी गुन-गुनाया करती हूं (धीरे-धीरे गाती है)

कल मुझ में उन्माद जगा था आज व्यथा निस्पन्द पड़ी,
कल आरक्त लता फूली थी पत्ती-पत्ती आज झड़ी।
अमर प्रेम है, कहते हैं, तब यह उत्थान-पतन कैसा ?
स्थिर है उसकी लौ, तब यह चिर-अस्थिर पागलपन कैसा ?
वह है यज्ञ, जो कि श्वासोंकी अविरल आहुतियां पाकर—
जला निरन्तर करता है, तब यह बुझने का क्षण कैसा ?
कल ज्वाला थी जहां, आज यह राख-ढंपी चिनगारी है,
कल देने की..........कल मुझ में..................

(गाते-गाते शांता का गला भारी हो आता है, फिर आवाज़ टूट जाती है। एक बार गला साफ़ करने का शब्द; फिर एक कड़ी गाती

है, फिर गला रुंधता है और वह सहसा चुप हो जाती है।)

अशोक—(सहसा चिन्तित) क्या बात है, शान्ता दी?

[बहुत हल्की-सी सिसकी का शब्द]

अशोक—(धीमे कोमल स्वर से) शान्ता दी (क्षणभर मौन)

[बाहर से निकट आता तांगे का शब्द और घंटी]

अशोक—(शान्ता को थोड़ी देर अकेले छोड़ देना उचित समझ कर बहाना ढूँढ़ता हुआ-सा) शान्ता दी, मैं ज़रा मुन्ने को देख आऊं, नहीं तो अभी सो जायगा। (स्वर दूर जाता है) अभी आया—

[बाहर दूरी पर ही कवि का शब्द क्रमशः निकट आता हुआ]

कवि—ओह शान्ता! मुझे अभी तत्काल फिर बाहर जाना होगा। ज़रा जल्दी से एक प्याला चाय दे दोगी?

शान्ता—(सँभल कर) जी।

[भीतर जाती है। भीतरसे बालक की हँसी का शब्द]

बालक—(भीतर से तीखा स्वर) बस, अशोक मामा, गिल-गिली मत चलाइये!

अशोक—तो तुम बोलते क्यों नहीं?

कवि—अरे कौन, अशोक? (जोर से) अशोक!

अशोक—(भीतर से) आ गए आप?

कवि—अरे, यहां आओ यार, दो मिनट गप्प ही करें; अभी तो चला जाऊंगा।

अशोक—(निकट आकर, विस्मित स्वर में) कहाँ?

कवि—यहीं ज़रा। बैठो ज़रा। चाय पियोगे?

अशोक—नहीं, इस समय नहीं।

[भीतर से शान्ता के गुनगुनाने का स्वर, जो क्रमशः कुछ स्पष्ट हो जाता है]

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिया को पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो।
सखियन मिल के सीख दई, मन एक न मानी हो।
बिन देखे कल ना परे, जिय ऐसी ठानी हो।
अंग छीन व्याकुल भई, मुख पिय पिय बानी हो।
अन्तर बेदन विरह की वह पीर न जानी हो।
सखी मेरी नींद नसानी हो।

कवि—(अर्ध-स्वगत) फिर वही गाना!

अशोक—क्यों, आपको गाना अच्छा नहीं लगता?

कवि—नहीं, गाना क्यों न अच्छा लगेगा? पर शान्ता वही एक ही रोने-रोने सुर गाती है। लेकिन मेरा खयाल है, मैं चलूं, चाय में अभी देर होगी।

अशोक—अरे, चाय तो आती होगी; पीकर जाना----

कवि—अरे अभी कहाँ? अभी तो (सहसा चुप हो जाता है)

[शान्ता का स्वर स्पष्ट हो गया है---वह पास आ रहा है]

सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिया की पन्थ निहारते सब रैन--
[गान सहसा बन्द हो जाता है]

शान्ता—लीजिए चाय!

[बहुत धीमे करुण संगीत के साथ फेड-आउट]

श्री पृथ्वीनाथ शर्मा

श्री पृथ्वीनाथ शर्मा पंजाब के हिन्दी कहानीकारों में सबसे ऊंचा स्थान रखते हैं। इनका साहित्यिक विषयों----विशेष कर कहानी कला पर गम्भीर अध्ययन है। आप में प्रतिभा है, मौलिकता है और इनके एकांकी-नाटकों का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक, सरस होता है। इनकी कला की विशेषता है कि वह यथार्थवाद से प्रारम्भ होकर आदर्शवाद में निमग्न हो जाती है। यह कथानक का निर्माण कल्पना से नहीं, जीवन से करते हैं। इसलिए इनके पात्र सजीवता की प्रतिमा होते हैं।

शर्मा जी की भाषा-भाव व्यंजना शैली सर्वथा अपनी है और अनूठी है। इन्होंने पूर्ण नाटक दुविधा और अपराधी लिखे हैं।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में तात्कालिक व्यवहारिक बुद्धि अधिक होती है। नीलू ने बड़ी चतुरता से कथित मौसी और बुआ से सरल नरेश का पीछा तो छुड़ाया किन्तु यह 'मुक्ति' अन्त में बन्धन नहीं बन गई ?

मुक्ति में बन्धन है बन्धन में मुक्ति।

पात्र

नरेश—एक समृद्धिशाली नवयुवक।

नरेश की बुआ तथा उसका परिवार।

नरेश की मौसी तथा उसका परिवार।

श्रीखंड—नरेश का बाल-सखा।

लेडी-डाक्टर सरोजिनी—नरेश की माँ की धर्म-बहन।

नीलांबरी—सरोजिनी की भतीजी। नौकर आदि।

मुक्ति

पहला दृश्य

[समय—बाद दोपहर । स्थान—प्रसिद्ध पहाड़ी नगर में नरेश की कोठी का विशाल ड्राइंग-रूम । कमरे के फ़र्श पर बहुत बढ़िया कालीन बिछा हुआ है । उसका रंग कई रंगों का मिश्रण है, किन्तु गहरे गेरुआ रंग ने अधिक स्थान घेर रखा है । क़ालीन के चारों ओर लगभग उसी रंग के नए ढंग के तीन सोफ़ा-सेट रखे हुए हैं । मध्य में चमचमाती बिल्लौर की तिपाई है । उस पर बिल्लौर का बड़ा फूलदान है, जिसमें विभिन्न वर्णों के देशी और विलायती फूलों का बड़ा गुलदस्ता रखा है। फूलों की हल्की महक कमरे में फैल रही है । नरेश, जिसकी आयु लगभग २२ वर्ष की होगी, एक सोफ़े पर अधलेटा-सा पड़ा है । ग्रे फलालैन की पतलून और सफेद रेशमी कमीज पहने है । बाल कुछ अस्तव्यस्त-से हैं । मुँह में पाइप दबाए है । कुछ पत्रिकाएँ तथा लिखने-पढ़ने का सामान उसके इर्द-गिर्द बिखरा हुआ है । एक पत्रिका के पृष्ठ अवश्य उलट रहा है; किन्तु ऐसा मालूम देता है, जैसे उसका मन उस पत्रिका में नहीं, कहीं और है । इतने में नौकर प्रवेश करता है ।]

नरेश—क्या बात है ?

नौकर—साहब, आपकी बुआ आई हैं ।

नरेश (आश्चर्य से)—मेरी बुआ, ! अकेली हैं ।

नौकर—नहीं, साहब, साथ में सत्रह-अठारह वर्ष की एक लड़की है । और मनों सामान भी ।

नरेश—लड़की है ! सामान हैं ! अच्छा, उनको इधर ले जाओ ।

(नौकर बाहर चला जाता और कुछ ही क्षणों में नरेश की बुआ

और उसकी लड़की प्रवेश करती हैं। नरेश उठकर उनका स्वागत करता है। उनको बैठने का संकेत करता है और ध्यानपूर्वक उनकी ओर देखता है। बुआ की आयु लगभग पचास वर्ष की होगी। चेहरा लिपा-पुता है, किन्तु उस पर झुर्रियाँ साफ़ दीख रही हैं। सिर के बाल अधपके हैं। साड़ी बहुत सँवार कर पहन रखी है। लड़की ने नीले-रंग की सलवार-कमीज पहन रखी है। नाखून तथा होंठ लाल रंग से रंगे हुए हैं। छोटी-छोटी आँखों को काजल के बल पर महत्त्व देने का विफल प्रयत्न किया गया है। ऊपर का होंठ निचले होंठ से जरा बड़ा है। हाँ, रंग अवश्य गोरा है।)

बुआ—तुम मुझे पहचानोगे तो क्या बेटा, क्योंकि तुम्हारे होश सँभालने से पूर्व ही हम लोग बर्मा चले गये थे। अब बीस वर्षों के अनन्तर वहाँ से आए हैं। अभी भी शायद न आते, यदि मैं तुम्हारे फूफा को न खो देती। (एकाएक वह सिसकने लगती है और उसके नेत्रों में आंसू आ जाते हैं।)

नरेश—किन्तु पिताजी ने कभी आपका...

बुआ—(बीच में ही बात काटकर)—तुम्हारे पिताजी मनुष्य नहीं, देवता थे। और तुम्हारा चेहरा-मोहरा भी उससे कितना मिलता-जुलता है! नीला, हमारे पास जो तुम्हारे मामाजी का फोटो है, उसमें वे क्या इन भैया-जैसे नहीं लगते?

नीला—बिलकुल वैसे ही ममी!

बुआ—भैया, कलकत्ते पहुँचते ही मुझे तुम्हारे देवता-स्वरूप पिता और प्रिय भाई के निधन की सूचना मिली। मेरा हृदय धक् से रह गया। मेरे नन्हे से लाल का क्या हाल होगा, यह सोचते-सोचते नयनों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उसी समय मैं अपने नन्हे को धीरज बँधाने के लिए अधीर हो उठी। यदि कहीं मेरे पंख होते, तो मैं उसी दिन यहाँ पहुँच जाती।

नरेश—यह आपकी बड़ी कृपा है। अब आप लोग आराम

कीजिए। सफ़र की थकान दूर कीजिए। बाकी बातें फिर होंगी।

(नौकर को आवाज़ देता है। नौकर प्रवेश करता है।)

नौकर—क्या आज्ञा है, साहब।

नरेश—कोठी की दाहिनी ओर के दोनों कमरों में इनका सामान लगवा दो। इनको साथ ले जाकर कमरे दिखा भी दो। फिर इनके नहाने-धोने का प्रबन्ध करके चाय की तैयारी करो।

नौकर—बहुत अच्छा, साहब! आइए मेम साहब, आइए मिस साहब!

(नरेश की बुआ तथा नीला दोनों नौकर के साथ चल देती हैं। नरेश सोफ़े से उठकर कमरे में टहलने और सोचने लगता है।)

नरेश (स्वगत)—यह रहस्य क्या है? पिताजी की तो कोई बहन थी नहीं। ख़ैर, वे ज़रा दम ले लें, फिर सारी स्थिति स्पष्ट हो जायगी।

(नरेश अपने स्थान पर जा बैठता है। एक पत्रिका को उठाकर उसे पढ़ने में तन्मय हो जाता है। कोई लगभग आधा घंटा यों ही बीत जाता है। इतने में नौकर फिर आता है।)

नरेश—कर दिया सब प्रबन्ध? चाय में कितनी देर है?

नौकर—यों तो कोई देर न थी, पर अब तो कुछ देर लगेगी ही।

नरेश (ज़रा चकित स्वर में)—वह क्यों?

नौकर—आपकी मौसी आई हैं।

नरेश—मौसी! वह कौन आ गईं? उनके साथ भी कोई लड़की है?

नौकर—जी हाँ, और एक उन्नीस-बीस वर्ष का लड़का भी है। हाँ, सामान बुआ जी से थोड़ा कम है।

नरेश (होंठों पर अद्भुत मुस्कान के साथ)—अच्छा, उन्हें भी दर्शनार्थ इधर ही आने का कष्ट करने के लिए कहो।

नौकर—बहुत अच्छा, साहब !

(नौकर उन सबको लेकर आधे मिनट में पुनः प्रवेश करता है। नरेश उठकर खड़ा हो जाता है। 'नमस्ते भाई साहब' मौसी की दोनों सन्तानें ऊँचे स्वर में उसका अभिवादन करती हैं। मौसी आगे बढ़कर प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरती हैं। नरेश सबको बैठने के लिए कहता है, पर स्वयं खड़ा रहता है। वे सब लोग बैठ जाते हैं।)

मौसी (आँखों में आँसू भर कर अपने मलमल के दुपट्टे को सँभालती हुई)—मेरा राजा बेटा, माँ भी गई और अब पिता भी गए ! मेरा लाल बिलकुल अपनी माँ का रूप है। आज कहीं वे होतीं, तो तुम्हें देख-देख कर फूली न समातीं। पर होती कैसे ! (दीर्घ निश्वास लेती है।)

नरेश (साहस करके)—मैंने आपको कभी देखा हो, ऐसा तो याद नहीं आ रहा।

मौसी—तुम मुझे देख ही कहाँ सकते थे ? तुमने अभी होश भी नहीं सँभाला था कि तुम्हारे-हमारे सम्बन्ध की कड़ी ही टूट गई। मैंने कई बार उनसे कहा कि मुझे अपनी बहन के हृदय के टुकड़े के पास ले चलो, किन्तु वे झिझकते ही रहे। दस बारह दिन हुए हमने तुम्हारे पूज्य पिता के स्वर्ग सिधारने की हृदय-विदारक खबर अखबारों में देखी। मेरा तो दिल उड़ने लगा। फिर तो मैं इनके पीछे पड़ गई। इस आशा में कि वे भी साथ चलेंगे, उन्होंने इतने दिन तक मुझे रोके रखा; पर उन्हें फुर्सत कहाँ ! आखिर हमें अकेले ही आना पड़ा।

नरेश—आपकी बड़ी कृपा है।

मौसी (रुँधे हुए गले से)—बेटा, आखिर हुआ क्या था तुम्हारे पिता को ?

नरेश—मौसी जी, यह लम्बी कहानी है। आप थकी होंगी। मुँह-हाथ धो लें, फिर सारी बातें कहूँगा।

(नौकर को आवाज़ देता है।)

नौकर(दाखिल होता हुआ)—क्या आज्ञा है, साहब ? इनके लिए बाएँ हाथ के दोनों कमरों में प्रबन्ध कर दूँ ?

नरेश (ज़रा मुस्कराकर और छिपे हुए व्यंग से)—हाँ, और अब शायद मेरी चाची आएँ ! उनसे कह देना कि वे बहुत विलम्ब से आई हैं, अब यहाँ स्थान नहीं है !

नौकर (गम्भीर स्वर में)—बहुत अच्छा।

(सबको साथ लेकर नौकर कमरे से बाहर चला जाता है। नरेश ज्यों-का-त्यों खड़ा रहता है। उसे समझ में नहीं आता कि उसके साथ हो क्या रहा है ? वह करे तो क्या ? कुछ देर खड़े रहने के अनन्तर वह फिर अपने स्थान पर बैठ जाता है और अपने-आपको पुस्तकों में खो देने का प्रयत्न करता है। यों बैठे-बैठे उसे कुछ ही देर होती है कि नौकर फिर प्रवेश करता है।)

नरेश (संदिग्ध, किन्तु ज़रा भयभीत स्वर में)—क्या चाची भी आ गई ?

नौकर—चाची तो नहीं, पर आपके कोई बालसखा आए हैं। यह कार्ड दिया है।

नरेश(कार्ड हाथ मे पकड़ कर उसे पढ़ते हुए)—श्रीखंड ! मैंने तो यह नाम कभी नहीं सुना। खैर, ले आओ इन्हें भी।

कुछ ही देर में नौकर के पीछे-पीछे श्रीखंडजी प्रवेश करते हैं। घिसा हुआ भूसले रंग का सूट, फटा-पुराना बूट, रुआँसी सूरत, बेचैन नेत्र।)

श्रीखंड—नमस्कार, नरेश भैया !

नरेश—नमस्कार। मैं आपको...

श्रीखंड—पहचान नहीं सके, यही कहने जा रहे थे न ? अब पहचान ही कौन सकता है ? वे दिन हवा हुए, जब श्रीखंड की ही चारों ओर चर्चा थी ! अपनी छठी कक्षा की बात याद करो,

जब हम एक ही बेंच पर बैठा करते थे।

नरेश—छठी कक्षा! मैं तो स्कूल में दाखिल ही सातवीं में हुआ था।

श्रीखंड (बिना घबराहट के)—सातवीं ही सही। पर जब आप पहचान ही नहीं रहे, तो किस्सा ही समाप्त है। वैसे मैं अपने बालसखा के साथ कुछ दिन बिताने की नीयत से आया था। खैर, अब सब व्यर्थ है। क्षमा मांगता हूं। (उठने का उपक्रम करता है।)

नरेश—इतनी उतावली न कीजिए। ज़रा बैठिए तो सही। मैं आपको यहां ठहरा तो लेता, पर अब यह सम्भव नहीं। आज ही मुझे प्रथम बार अपनी बुआ और मौसा ने भी कृतार्थ किया है। मेरे यहाँ जो भी खाली कमरे थे, उनमें वे और उनकी सन्तानें विराज रही हैं।

श्रीखंड—कोई बात नहीं। मैं कहीं दूसरी जगह प्रबन्ध कर लूंगा। किन्तु मेरा दुर्भाग्य तो देखिए, गाड़ी में उतरते ही गठकतरे का शिकार हो गया, जिसके कारण दो सौ रुपए से हाथ धोना पड़ा! सोचा था, दो-एक दिन आपके यहां रहकर तार द्वारा रुपया मंगवा लूंगा। खैर! (उठ खड़ा होता है।)

नरेश (पतलून की जेब में हाथ डालकर एक चमड़े का बटुआ निकालता है। उसमें से दस-दस रुपए के पांच नोट निकाल कर उन्हें श्रीखंड की ओर बढ़ाता है)—यह लीजिए, दो-एक दिन इनसे निकालिए, तब तक आपके रुपए आ जायंगे।

श्रीखंड (हाथ बढ़ाकर रुपए पकड़ते हुए) आप इतना कष्ट कर रहे हैं! धन्यवाद। (तेजी से कमरे से बाहर हो जाता है।)]

दूसरा दृश्य

[स्थान—लेडी-डाक्टर सरोजिनी का बैठने वाला कमरा एक सोफ़े पर सरोजिनी, जिसकी आयु लगभग ४२ वर्ष की होगी, बैठी है। उसके साथ

ही बैठी है नीलांबरी, जिसकी आयु कठिनता से बीस वर्ष की होगी। वह एक भड़कीले नीले और सुनहले रंग की साड़ी पहने है। रंग गोरा है, अंग सुडौल हैं। इतने में नरेश प्रवेश करता है। मुख मलीन है। कपड़े बेपरवाही से पहन रखे हैं।]

सरोजिनी—आओ नरेश, तुम कैसे भूल पड़े ?

नरेश (थोड़ा मुस्कराने का प्रयत्न करते हुए)—विपत्ति खींच लाई है।

सरोजिनी—विपत्ति या विपत्तियाँ ?

नरेश—विपत्तियाँ ही समझिए, आंटी !

सरोजिनी—अच्छा, बैठ तो जाओ। तुम नीलू को नहीं जानते क्या ? इसने इसी वर्ष बी० ए० किया है।

नरेश (नीलू को नमस्कार करते हुए सामने वाली कुर्सी पर बैठ जाता है)—इन्हें कहीं देखा अवश्य है, ऐसा याद आ रहा है।

नीलू—कालेज में देखा होगा। 'मन जीते सब जीत' विषय के वाद विवाद में मेरी-आपकी मुठभेड़ भी हो चुकी है।

नरेश—बिलकुल ठीक। अब सब-कुछ याद आ गया। उस वाद-विवाद में आपने मुझे पछाड़ा भी खूब !

सरोजिनी—नीलू, तुम तो अपनी राम-कहानी ले बैठीं। उस बेचारे की विपत्ति-कथा भी तो सुनो।

नीलू—मैं दत्तचित्त हूँ।

नरेश—यह तो आपको पता ही है कि मेरे यहाँ एक मेरी बुआ और एक मेरी मौसी टिकी हुई हैं।

सरोजिनी—यह तो मैं जानती हूँ, किन्तु क्या यह पता चला कि वास्तव में ये हैं कौन ?

नरेश—बड़ी कठिनता से इतना पता लगा पाया हूँ कि बुआ शहर के उस मुहल्ले की रहनेवाली हैं, जिसमें जीवन के आरंभ में पिताजी कुछ मास रहे थे और मौसी उसी गाँव की हैं, जहाँ

मताजी ने जन्म लिया था।

सरोजिनी—बस, यही सम्बन्ध है ?

नरेश—जी हाँ। आज एक महीना होने को आया है, किन्तु जाने का नाम नहीं लेतीं। कई बार उनका आपस में इतना विकट झगड़ा होता है, जिससे आशा होने लगती है कि उन दोनों का मेरे यहाँ रहना संभव नहीं होगा। पर दूसरे ही क्षण दोनों इस तरह घुल-मिल जाती हैं, मानो कभी झगड़ी ही नहीं ! (निराश स्वर में) मुझे तो ऐसा दीखता है कि आयु-पर्यन्त उनका भार उठाना पड़ेगा। बाकी जो-कुछ है, सो तो है ही, पर उनके कारण पूर्णतया मानसिक शांति खो बैठा हूँ। न कुछ लिख सकता हूँ, न पढ़ सकता हूँ और न सोच सकता हूँ। आंटी, क्या आप उनसे मुझे मुक्ति नहीं दिला सकतीं ?

सरोजिनी—(आश्चर्य से)—मैं ! सो कैसे ?

नरेश (अनुनय-भरे स्वर में)—कोई रास्ता निकालकर, आंटी, तुम्हें कुछ अवश्य करना होगा।

नीलू (सहसा बोल उठती है)—मैं यह काम कर सकती हूँ।

नरेश—आप !

सरोजिनी—वह कैसे ?

नीलू—किन्तु नहीं। (सोच में पड़ जाती है)

नरेश (प्रोत्साहन देते हुए)—कहिए तो सही।

सरोजिनी—अब पीछे क्यों हटती हो ? जो-कुछ तुम्हें सूझा है, बताओ तो सही।

नीलू—बताने में मुझे कोई आपत्ति नहीं। मेरे विचार से केवल एक ही व्यक्ति उन लोगों को निकाल सकता है—आपकी पत्नी। मैंने सोचा था, एकाध दिन के लिए यदि कहीं मैं वह रूप धारण कर लेती, तो उन्हें आपका घर छोड़ जाने के लिए विवश कर देती। किन्तु शायद यह न मेरे लिए उचित

है और न आपके लिए ही। क्यों आंटी ?

सरोजिनी (खिल खिलाकर हँसती है)—बहुत खूब ! नीलू रास्ता तो तुमने अद्भुत सोचा है।

नरेश—यदि यह पथ आपत्तिजनक न होता, तो मैं इनके पाँव पड़ जाता। पर क्या किसी भी तरह इस पथ की आपत्ति दूर नहीं हो सकती ?

सरोजिनी—पथ की आपत्ति ! यदि तुम दोनों निर्मल हृदय से नाटक समझकर यह पथ पकड़ लो, तो वास्तविक आपत्ति रहती ही नहीं।

नीलू (ज़रा उत्सुकता से)—उस दशा में व्यक्तिगत रूप से आपको तो कोई आपत्ति नहीं होगी ?

सरोजिनी—बिलकुल नहीं। नीलू, जैसे तुम मेरी बेटी हो, वैसे ही नरेश मेरा बेटा है। यदि तुम उसे मुसीबत से छुड़ा सको, तो मैं प्रसन्न हूँगी।

नरेश (प्रार्थनात्मक स्वर में)—तो आप कीजिए मेरा उद्धार, नीलांबरी देवीजी ! जो भी शर्तें आप रखेंगी, वे तो मुझे स्वीकार होंगी ही और साथ ही इस मुक्तिदान के लिए आयु-पर्यन्त मैं आपका यह उपकार न भूलूँगा।

नीलू (मुस्कराकर)—एवमस्तु ! आप आज ही घर जाकर नौकर द्वारा यह प्रसिद्ध करवा दीजिए कि आप कल सिविल-विवाह करने जा रहे हैं। रात किसी होटल में काटिए, घर पर न रहिए। कल प्रातः ११ बजे के लगभग यहाँ आ जाइए। मैं तब-तक आपकी प्रतीक्षा में तैयार बैठी रहूँगी।

नरेश (हँसी रोकते हुये)—अनेक धन्यवाद ! (उठ खड़ा होता है) अब चलता हूँ। (खिला हुआ मुख लिये कमरे से बाहर चला जाता है।)

तीसरा दृश्य

(समय—प्रातः बारह बजे से ज़रा पहले। स्थान—नरेश का ड्राइंग-रूम। नरेश एक बहुत बढ़िया सूट पहने खड़ा है। निकट ही गद्देदार कुर्सी पर नीलू बैठी है। वह अपनी एक बहुत बढ़िया मोतिया रंग की साड़ी पहने है। होंठ लिपिस्टिक द्वारा रंजित हैं। चेहरा लिपा-पुता है। नाखून क्यूटैक्स द्वारा लाल किए हुए हैं। माँग में सिंदूर तथा माथे पर लाल बिंदी है। भृकुटी चढ़ी हुई है।)

नीलू (ऊँचे स्वर में)—तुम तो कह रहे थे, यह तुम्हारी कोठी है। क्या यह ठीक है ?

नरेश—बिल्कुल।

नीलू—तो इसके दाएं भाग में कौन रहते हैं, बाएँ में कौन डेरा डाले हैं ? यह तुमने मुझे पहले क्यों नहीं बताया ? यह कि तुम्हारे अधिकार में इस कमरे के अतिरिक्त केवल एक ही और कमरा है, यह कि मुझे अपनी ही कोठी में बंदिनी की भाँति रहना होगा, तुमने मुझसे क्यों छिपाया ?

नरेश (ज़रा खीझकर)—तो तुम क्या चाहती हो ?

नीलू (झल्लाए हुए स्वर से)—मैं चाहती हूँ, मुझे जहाँ से लाए हो, वहीं छोड़ आओ और तुम मज़े से अपनी बुआ और मौसी के साथ रहो। मेरा तो ऐसे वातावरण में दम घुट जायगा। (उठकर खड़ी हो जाती है और जोर से ज़मीन पर पाँव पटकती है) चलो, अभी चलो।

(इतने में नौकर प्रवेश करता है।)

नौकर—साहब, मौसी कहती हैं कि उन्हें आज ही लौट जाना है ! घर से बहुत ज़रूरी बुलावा आया है !

नरेश—किन्तु।

नीलू—किन्तु-विन्तु कुछ नहीं। उनसे कह दो कि वे प्रसन्नता से जायं।

नरेश [स्वर में थोड़ी चिन्ता भरकर नीलू की ओर देखते हुए]—कहीं उन्होंने हमारी बातचीत तो नहीं सुन ली।

[बुआ का प्रवेश। नौकर चुपके से बाहर चला जाता है।]

बुआ—तो तुम्हारे विचारों में हम बहरे हैं। हम भी आज जा रहे हैं। [नीलू की ओर देखते हुए व्यंग-भरे स्वर में] लो, संभालो अपना घर, बहूरानी !

[नीलू कुछ जवाब नहीं देती। अभिमान-भरे भाव से उसकी ओर केवल देख-भर लेती है। बुआ जल-भुनकर तेजी से कमरे से बाहर हो जाती है।

नरेश [थोड़ा मुस्कराकर नीलू की ओर देखते हुए]—नीलू, तुमने···।

नीलू (घूमकर उसकी ओर देखती है)—ज़रा नौकर को तो बुलाओ।

नरेश—क्यों, क्या बात है ?

नीलू—तुम बुलाओ तो सही।

नरेश[बाहर जाता है और नौकर को साथ लेकर लौट आता है।]

नीलू [नौकर से काफी ऊँचे स्वर में]—क्या वे लोग जाने की तैयारी में लग गए हैं ?

नौकर—जी हाँ।

नीलू—[और भी ऊँचे स्वर में] जिस समय चले जायं, मुझे सूचना देना। मैं अपने लिए कमरा पसन्द करना चाहती हूँ।

नौकर—बहुत अच्छा। [बाहर चला जाता है।]

नीलू [नरेश से]—मुझे कुछ पुस्तकें ला दो। मैं उनके जाने तक उनका अवलोकन करूंगी।

नरेश [कुछ पुस्तकें हाथ में पकड़े हुए]—यह लो।

[नीलू पुस्तकें उससे ले लेती है। उनमें से एक पुस्तक छाँटकर अलग कर लेती है और बाकी पुस्तकें नरेश को लौटा देती है। उस

पुस्तक को लेकर सोफे पर बैठ जाती है और उसे पढ़ने में तन्मय हो जाती है। नरेश कमरे में टहलने लग जाता है और गहरे सोच में डूबा हुआ मालूम देता है। कुछ समय के अनंतर नौकर प्रवेश करता है।]

नीलू [पुस्तक से ध्यान हटाकर]—चले गए ?

नौकर—जी हाँ।

नीलू—उन कमरों को जरा साफ़ करवा दो। मैं थोड़ी देर में उन्हें देखने आती हूँ।

नौकर—बहुत अच्छा। (बाहर चला जाता है)

नीलू—लीजिए नरेशजी, मैंने अपना वादा पूरा कर दिया। अब आज्ञा दीजिए।

नरेश [अर्ध-गम्भीर वाणी में]—तुम्हारे जाने के बाद यदि वे फिर लौट आयें, तो ?

नीलू (शरारत-भरे स्वर में)—तो फिर तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। मैंने आयु-पर्यन्त यह भार उठाने का तो ठेका लिया नहीं था।

नरेश (स्नेह-सने अनुनय-भरे स्वर में)—यदि मैं तुम्हें आयु-पर्यन्त यह भार उठाने के लिए कहूँ, तो क्या सरासर भूल होगी ? यह मैं मानता हूँ कि मेरे लिए ऐसा करना अपनी सामर्थ्य से ऊंचा उड़ने का प्रयास है। पर क्या ऊंचाई इतनी अधिक है कि मेरा प्रयास हास्यास्पद बनकर रह जायगा ?

नीलू—(चौंककर नरेश की ओर देखती है और एकाएक कुर्सी से उठकर कमरे में दो-चार डग भरती है। फिर थोड़ा मुस्कराती हुई नरेश के सम्मुख खड़ी होती है।)—मैं पाँच मिनट बाद तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूंगी। अब तक कमरे शायद साफ़ हो गए होंगे। मैं उन्हें देखने जा रही हूँ। यदि मुझे उनमें से कोई सैट भा गया, तो फिर शायद मैं भार उठा सकूं !

(नीलू कमरे से बाहर चली जाती है। नरेश उठकर बेचैनी से कमरे में टहलने लग जाता है। कुछ ही क्षणों के अनन्तर नीलू पुनः प्रवेश करती है।)

नरेश (उत्सुकता से)—क्यों ?

नीलू (एक-एक शब्द को तौलते हुए)—एक सैट तो मुझे पसंद आ गया है।

नरेश (उल्लसित होकर)—नीलू, नीलू! (उसकी ओर बढ़ता है। (पटाक्षेप)

श्री हरदयाल सिंह "मौजी"

श्री 'मौजी' जी का 'राम-राजो' अकेला एकांकी मिलता है। उनके देहावसान से हिन्दी-साहित्य में एक महान कलाकार का अभाव हो गया है जो अपनी सरल लेखनी से हिन्दी मां के मन्दिर में न जाने कितने पुष्प भेंट करते। इनकी कला पात्रों के स्वाभाविक चरित्र-चित्रण में अपनी अलग विशेषता रखती थी।

× × × ×

'मौजी' जी का 'राम-राजो' बाल जीवन का सुन्दर चित्र है। छोटे भाई-बहनों का सुलभ हंसी-खेल, लड़ाई-झगड़ा और असीम स्निग्ध स्नेह दोनों रचनाओं के प्राण हैं। राम-राजो पुष्प-सी कोमल रचना है। जिसे बाल-वृद्ध सभी चाव से पढ़ सकते हैं। इसके कथानक में जल-धारा-सी स्वाभाविक तरलता है, मिठास और कोमलता है।

'राम-राजो' को बच्चे सरलता से अभिनय कर सकते हैं।

पात्र:—

रम्मू
राजो
माँ

राम-राजो

[एक कमरा, उसमें भाई-बहन दो बालक और उनकी मां। बालक (राम) के हाथ में एक नई गेंद। समय—सुबह ७ बजे]

रम्मू—अम्मा ! आज मैं स्कूल नहीं जाऊँगा।

मां—क्यों नहीं जायगा।

रम्मू—नई गेंद से खेलने को जी हो रहा है।

अम्मा—नहीं, बेटा ! पढ़ आओ, आकर खेलना।

रम्मू—नहीं, अम्मा ! बहुत-बहुत जी हो रहा है। आज मैं नहीं जाऊँगा।

[गेंद उछालने लगता है।]

राजो—तो मैं भी न जाऊंगीं।

[तुनककर एक ओर खड़ी हो जाती है।]

अम्मा—तू...तुझे क्या हुआ ?

राजो—मैं भी खेलूँगी। वाह जी वाह...

रम्मू—(बीच ही में, मुँह बनाकर) खेलेगी ! जो खिलाऊंगा तब न ?

[गेंद दिखाकर एक ओर उछालता है।]

राजो—तुम—तुम नहीं खिलाओगे ? तुम्हारी तो छाँह भी खिलाये।...

अम्मा—अरी, जा, जा,—तू स्कूल जा; झगड़ा मत कर।

राजो—नहीं, अम्मा ! रामू नहीं जायगा, तो मैं भी नहीं जाऊंगी।

अम्मा—तू तो पगली है। रामू कुए में गिरेगा, तो तू भी गिरेगी ?

रम्मू—(तुरन्त ही) हाँ, ले यही रही। मैं कुए में गिरता हूँ,

आ चल, तू भी गिर !

[तनकर चलने को उद्यत होता है !]

अम्मा—(दोनों हाथ बढ़ाकर) अरे बस रह ! कोई बड़ाई की बात नहीं है, जिसके लिए इतनी जल्दी तैयार हो गया।

राजो—नहीं, अम्मा ! ज़रा जाने तो दे, यह रोज एक नई शेखी बघारता है।

अम्मा—अरी तू कौन भली है ? मानती तो तू भी नहीं !

राजो—तो अम्मा ! यह भी तो उस दिन हमारी गुड़िया के ब्याह के दिन पढ़ने नहीं गया था...मैं नहीं जाऊंगी।

[दीवार से लगकर खड़ी हो जाती है।]

रम्मू—अच्छा अम्मा ! नहीं जाती है, न जाय। पर खेलेगी कैसे, गेंद तो मैं छूने नहीं दूंगा।

[यह कहकर गेंद उछालता है और राजो मौका पाते ही उसे दबोच लेती है।]

रम्मू—(राजो के सामने आकर) तू नहीं देगी गेंद ?

राजो—नहीं दूंगी।

[ऊपर ही ऊपर उछालती है।]

रम्मू—नहीं देगी ?

राजो—हाँ, हाँ; नहीं दूंगी, नहीं दूंगी।

रम्मू—अच्छा...(यह कहते हुए वह दौड़कर एक ताक से राजो की गुड़िया उठा लाता है)...बोल देगी ?

[राजो यह देख अवाक् रह जाती है।]

रम्मू—बोल !

[गुड़िया फाड़ने को तैयार हो जाता है]

राजो—ले, यह अपनी गेंद।

[गेंद फेंक देती है, और दौड़कर गुड़िया ले लेती है।

रम्मू—कैसी रही ?

[मुँह की टिटकारी के साथ गेंद उछालता है, राजो गुड़िया मजबूती से हाथ में लिये चुपचाप देखती है।]

अम्मा—अरी, तू जाती है कि नहीं।

रम्मू—नहीं; अम्मा आज इसे गेंद ही खेलने दो।

[राजो की तरफ़ मुँह बनाता है और गेंद उछालता है। राजो फिर मौका पाकर गेंद को हथिया लेती है। रम्मू खड़ा देखता रह जाता है।]

रम्मू—देखो अम्मा! यह गेंद नहीं देती है, मैं—(राजो की तरफ देखकर)—मैं फिर वही बात कह दूंगा।

अम्मा—क्या कह देगा रे!

रम्मू—(मां के कान के पास जाकर) 'राजो का दूल्हा काला!'

[राजो समझ जाती है।]

राजो—अच्छा, ले भी—अपनी गेंद ले—(गद्दा देती है, रम्मू पकड़ने दौड़ता है, किन्तु गेंद फिर राजो के हाथ में आ जाती है) अच्छा, ले...ले!

[बार-बार वह गद्दा देती है और गेंद को खींच लेती है।]

रम्मू—ले...ले...तेरा सिर! (रम्मू खड़ा हो जाता है) तो मैं कह दूं ?

राजो—अच्छा, अबकी बेर ले!

[फिर गद्दा देती है और बार-बार रामू को भटकाती है।]

रम्मू—(खीझकर) 'राजो का...'

राजो—(फौरन गेंद छोड़ते हुए) अच्छा ले।

रम्मू—(गेंद लेकर) अब तो मानी।

[गेंद उछालता है।]

राजो—ए...लो...मैंने...पकड़ी।

[हाथ बढ़ाकर गेंद की तरफ लपकती है और जान बूझकर उसे छोड़ देती है]

रम्मू—तुम ? पकड़ चुकीं ।

[रम्मू किसी तरह गेंद को पकड़कर दूसरी ओर गढ़ा देता है ।]

राजो—अच्छा । तो देखो ।

[फिर लपकती है, फिर छोड़ देती है ।]

रम्मू—बस ?

[अपनी जीत समझकर बहुत खुश होता है, भूल जाता है कि राजो उसके साथ खेल रही है—बहुत देर हो जाती है ।]

अम्मा—अरी राजो ! तू तो स्कूल जा रही थी ।

राजो—हाँ, जाती हूँ अम्मा !

[और यह कहकर गेंद फिर हथिया ली ।]

रम्मू—अम्मा ! यह स्कूल नहीं जा रही है—देखो, देखो तो—मेरी गेंद फिर छीन ली ! (राजो की ओर देखकर) जाके जीमो, मेरी गेंद से न खेलो ।

राजो—अच्छा ले, मैं जा रही हूँ !

[यह कह वह दो-चार गड्ढे फिर गेंद को देती और रम्मू को भटकाती है, किन्तु आखिर रम्मू को उसे दबोचने का मौका देकर—मानों रम्मू सफल हुआ हो—और गेंद को छोड़कर, बस्ता ले, स्कूल को चल देती है ।]

रम्मू—देखो, अब की बार पकड़ी कि नहीं ? (यह कहते हुए वह जाती हुई राजो की ओर पीछे से देखता है) अच्छा, अब तो आप स्कूल जा रही हैं, कि नहीं और मैं देखो खेलता हूँ ।

[मुँह बनाता है ।]

[२]

(रम्मू अकेला गेंद उछाल रहा है)

रम्मू—(ऊबता सा) अम्मा, दीदी की छुट्टी कब होती है ?

अम्मा—अरे अभी से छुट्टी ? अभी तो वह गई ही है !

रम्मू—नहीं, अम्मा । बताओ कब होगी उसकी छुट्टी ?

अम्मा—अरे जब होगी, जब होगी—तू अपना खेल न? वह अभी चार-पाँच घण्टे नहीं आयेगी—तू आज जी भर कर खेल ले।

रम्मू—चार पाँच घण्टे अभी नहीं आयेगी?

अम्मा—हाँ, हाँ चार-पाँच घण्टे क्या थोड़े होते हैं! आखिर उसे कभी घर में घुसने भी देगा कि नहीं?

रम्मू—(रंजीदा-सा होकर) अच्छा अम्मा, मैं अभी आता हूँ।

[बाहर की ओर चल खड़ा होता है]

अम्मा—अरे सुन तो! न जाने अब कहाँ चला। कहाँ से करम की मारी यह गेंद ले आई!

रम्मू—(जाते-जाते) अभी आता हूँ।

[३]

[स्कूल के फाटक पर रम्मू ने राजो को आवाज दी और वह चली आई।]

राजो—क्यों, क्या बात है रे?

रम्मू—(साड़ी का पल्ला पकड़कर) दीदी!

[संकोच करके रुक जाता है]

राजो—हाँ, हाँ, कह भी?

रम्मू—तुम घर कब चलोगी?

राजो—घर? अभी तो आई ही हूँ! क्यों अम्मा ने कुछ कहा है?

[आशंकित होती है।]

रम्मू—नहीं।

राजो—तो?...अरे तू बात बता मुझे आप ही आज देर हो गई है, बहनजी, (अध्यापिका) नाराज़ हो रही हैं।

रम्मू—तो तुम अभी नहीं चलोगी?

राजो—हाय रे! फिर वही। अरे कुछ बात भी बतलाती है

कि नहीं ?...अम्मा को वही दौरा तो नहीं हो आया है ?

रम्मू—नहीं, नहीं।

[यह कह कर वह हाथ में ली हुई गेंद की तरफ देखता है।]

राजो—क्यों, क्या गेंद फट गई है ? तो मैं इसमें क्या कर दूँगी ? (गेंद हाथ में लेकर देखती और गद्दा देकर) ठीक तो है !

रम्मू—(प्रफुल्लित-सा हुआ) दीदी ! ऐसे ही, फिर चलो, खेलेंगे...चलो, अभी चलो !

राजो—अच्छा, इसलिए आये हैं आप ! नहीं, नहीं, मैं पढ़-कर जाऊँगी। तुम जाओ, खेलो, अपनी गेंद से। वाह जी वाह ! मैं अपना हर्ज क्यों करूँ ?

रम्मू—(साड़ी का पल्ला खींचकर तथा गर्दन, हाथ, और, पैर नचाकर) नहीं, दीदी ! तुम चलो, अच्छी दीदी ! अकेले नहीं खेल बनता।

राजो—नहीं, नहीं, भैया ! बहनजी (अध्यापिका) नाराज होंगी कि अभी आई थी और अभी कहाँ चली गई।

रम्मू—नहीं, तुम चलो ! मैं बहनजी से कहता जाऊँगा कि दीदी को उल्टी (क़ै) हो गई थी, घर चली गई और तुम्हारा बस्ता भी ले आऊंगा।

राजो—नहीं, नहीं, मैं नहीं जाऊँगी। वाह जी वाह, अभी तो तुम मेरी गुड़िया फाड़ दे रहे थे और अभी फिर यह ! तुम जाओ, तुम्हारी गेंद है, तुम्हीं उससे खेलो !

रम्मू—(आँखों में आँसू लाकर) मैं गुड़िया कभी नहीं फाड़ूँगा, और लो, यह गेंद भी तुम लो !

राजो—(उसके आंसुओं से भरे मुँह पर हाथ रखकर) अरे, मैं चलती तो हूँ, तू रो मत...मेरा भैया आ आ !

[वह कहते हुए उसे गोदी में ले लेती है।]

[४]

[कमरे में पहुँचकर फिर दोनों गेंद खेलने लगते हैं।]

अम्मा—अरी, तू आ गई ?...और यह कहाँ गया था ?

राजो—आ न जाती तो क्या करती ? हज़रत वहाँ जाकर रोने लगे।

अम्मा—यह रम्मू ? ? तुझे लिवा लाने को ?

राजो—जी, अम्मा, यह रम्मू साहब ! (रम्मू की ओर मुँह करके) देखा, गुड़िया फाड़ने का मजा। खेल न लिए अकेले ?

[यह कहते हुए उसने रम्मू को गोदी में चिपका लिया]

श्री यश

श्री यश 'हिन्दी मिलाप' के सम्पादक हैं। आप तरुण कहानीकार और एकांकी लेखक हैं। इन्होंने अपनी कहानियों मे नवीन शैली का प्रयोग किया है। आपकी भाव व्यंजना-शक्ति ओजस्वी और प्रवाहपूर्ण है। यह कहानी के पात्रों में द्वन्द्वों अन्तर्द्वन्द्वों को जगाते हैं और उनका मनोवैज्ञाविक विश्लेषण करते हैं।

जेल जीवन में इन्होंने साहित्य के अनेक विषयों का अध्ययन किया है। शनैः-शनैः आपकी लेखन-कला में प्रगति औरन वीनता का प्रसार होता रहा है। इनकी 'आग' और 'कारावास' कहानी-संग्रह हैं।

'पराधीनता की ओर' एकांकी में आधुनिक युग के विज्ञान-प्रेमियों पर एक मधुर व्यंग-सा है जो दिन प्रतिदिन विज्ञान के गुलाम बनकर आलस्य का शिकार हो रहे हैं। और नवीनता के मोहजाल में फंस कर प्राचीन उपयोगी पदार्थों का भी बहिष्कार कर रहे हैं।

एकांकी में विज्ञान की उपेक्षा नहीं वरंच अन्धाधुन्ध अनुकरण पर व्याजस्तुति की झांकी है।

पात्र

बाबाजी,

माँजी,

राज,

दौलत,

किस्मत।

पराधीनता की ओर

पहला दृश्य

[देहात ।

[गांव का एक कोना । साफ़-सुथरा लेकिन साधारण कच्चा मकान । दीवारें लिपी-पुती । छोटे-से आंगन के ठीक मध्य में एक पीपल का पेड़ उगा है । दायें हाथ सफ़ेद गाय बंधी है । बायें हाथ छप्पर के नीचे चौका । सामने तीन कमरे । एक आगे, दो पीछे । मामूली सामान । परन्तु प्रत्येक वस्तु कायदे से पड़ी है । पुराने ढंग के पलंग पर काढ़ी हुई चद्दर । छोटी तिपाई पर फूलदान । दीवार पर तीन-चार चित्र । कृष्ण । नानक । गांधी । और एक कोई नवयुवक । सरकण्डों के दो मूढ़े । एक कोने में लकड़ी के तख्ते पर कुछ किताबें भी हैं । पिछले दो कमरों में सामान पड़ा है ।

[गाय के अतिरिक्त कुल तीन प्राणी । चौके में रोटी बनाती एक युवती । माथे पर बिंदी । मांग में सिंदूर । कलाइयों में एक एक चूड़ी । चूल्हे की आग की तरह उसका रंग लाल है । पास ही 'पीढ़ी' पर बैठी एक बुढ़िया । कपास से बिनौले अलग करती हुई । सफ़ेद कपास की तरह उसके बाल सफ़ेद हैं । और परे गाय की ओर मुंह किये एक बुड्ढा बुढ़ापे की उपेक्षा करता हुआ छोटे पायों वाली चारपाई पर लेटा है । बूढ़े के बोझ से चारपाई का तनाव झुक गया है । उम्र के बोझ से बूढ़े की कमर झुक गई है ।

[समय । तब-जब पश्चिम में सूर्य की लालिमा नष्ट हो जाती है और प्रकाश का स्थान अंधेरा लेने लगता है ।

[चूल्हे की आग एकाएक बुझ जाती है । युवती फूंकें मारती है ।

धुआँ फैलता है । युवती आंखें मलती है । बूढ़ा खांसता है । लेकिन आग नहीं जलती ।

मांजी (बुढ़िया)—कितना लापरवाह हो गया है किरपा आजकल । सौ बार कहा है, सूखी लकड़ियां देखकर काटा कर । गर्मियों के दिन तो हैं नहीं कि झट सूख जायें । लेकिन, उनका मन तो रहता है विलायत में—दौलत के पास ।

बाबा (बूढ़ा)—क्यों पड़ी रहती हो हर वक्त किरपे के पीछे । सात दिन लगातार बरसा है पानी । और वह भी इतने जोर का कि धरती की सातों तहें भीग गईं । तब सूखी लकड़ी मिले कहाँ से ? हिम्मत है लड़के की कि ले ही आता है । नहीं तो दस जमातें पढ़ के किसने लकड़ियाँ काटी हैं।

मांजी—क्यों, दौलत नहीं करता था क्या यह सब काम ? तेरहवीं में पढ़ता था; लेकिन क्या मजाल कि वह घर हो और कोई काम किसी और को करने दे । आखिर भाई तो उसी का है ।

[युवती अभी भी फूँकें मार रही है; लेकिन असफल । हवा के एक झोंके के साथ धुआं मांजी तक पहुँचता है ?]

मांजी—इतनी हवा में भी आग नहीं जलती । भला पानी भी कभी जला है । उठ, बहूरानी ! मैं जलाती हूँ आग । तू क्यों आंखें खराब करती है ।

राज (युवती)—आँखें जैसी मेरी वैसी आपकी। और फिर जलना तो लकड़ियों ने है । जब तक गीली हैं, धुआं ही छोड़ेंगी ।

बाबा—बेटा, एक आंख गीली हो तो तन-बदन में धुआँ उठता है; जो समूची ही गीली हैं; वह जलें कैसे ? गरीबी के दिन भी गीले होते हैं । उनमें गर्मी नहीं होती ।

[किरपा लकड़ियों का एक गट्ठर कंधे पर रखे आता है । माथे पर पसीने की कुछ बूंदें । बाल बिखरे हुए । लेकिन प्रसन्न वदन ।

[राज अभी भी आग जलाने की असफल चेष्टा कर रही है ।]

किरपा—(गट्ठा एक ओर पटकते हुए) तौबा ! यह भी कोई देश है । दुनियां भर जब उन्नति करते-करते सातवें आसमान पर पहुँच गई है; हमारा देश चौदहवीं शताब्दी की रूढ़ियों में फँसा है । लोग बटन दबाकर चूल्हा गर्म कर लेते हैं; लेकिन हमें लकड़ियां कांटने से ही फुर्सत नहीं मिलती । (राज को आंखें मलते देखकर) देखो न भाभी की ओर । यह हालत है भारत की स्त्रियों की । दिन भर चौके-चूल्हे से ही छुट्टी नहीं मिलती । इस धुयें में कब तक आँखों का पानी बना रह सकता है !

माँजी—भाग्य की बात है, बेटा ! जैसे बने, वैसे ही गुजारा करना पड़ता है । ऊंचे महल देखकर टक्कर मारी है कभी किसी ने ।

किरपा—टक्कर तो नहीं मारी; लेकिन वैसा महल बनाने की कोशिश तो की है । जब विज्ञान ने उन्नति नहीं की थी, तब तो माना कि आदमी लकड़ियां काटा करें और औरतें धुएँ से उलझा करें । लेकिन, जब वैज्ञानिकों ने बिजली पैदा करदी बिजली के चूल्हे बना दिये, तब क्यों हम पुरानी लकीरों को पीटते रहें ? भाभी ! सुनाया नहीं तुमने भैया का खत माजी को ? ओह ! कितना सुख है अंग्रेजों के देश में । कोई झंझट ही नहीं । बटन दबाया, बिजली जल पड़ी । बटन दबाया, चूल्हा गर्म हो गया । बटन दबाया और खाना तैयार । बिजली के टब में मैले बर्तन डाल दो, अपने आप साफ हो जायें । कपड़े भी इसी तरह धुल जाते हैं । जो काम हम दिनों में नहीं कर पाते, वह वहां आंख झपकते हो जाते हैं । सच, विलायत तो स्वर्ग है !

बाबा—दूर के ढोल सुहावने होते हैं, बेटा ! जो बरकत हाथ के काम में है, वह बिजली की कलों में नहीं !

किरपा—बस, यही तो दोष है हमारा। भारतीयों की प्रकृति में ही इतना रूढ़िवाद है कि हम उन्नति को भी संदेह की दृष्टि से देखते हैं। वास्तव में जड़ पदार्थों की पूजा करते-करते हम स्वयं जड़ हो गये हैं। इतने जड़ कि परिवर्तन [के नाम से भी घबराते हैं। बाबा! जब तक हम उन्नति नहीं करेंगे, परिवर्तन] का स्वागत नहीं करेंगे, समय के साथ नहीं बदलेंगे और नई चीजों को नहीं अपनायेंगे, तब तक हम चौके-चूल्हे और जंगलों के ही गुलाम रहेंगे। हमारा कभी विकास नहीं होगा।

बाबा—तेरा लहू गरम है, किरपे। गर्मी में चेतनता है। परिवर्तन की लालसा। लेकिन ठण्डे लहू में एक स्थिरता होती है। रेत परिवर्तनशील है। चट्टान स्थिर। बच्चे रेत से खेलते हैं; लेकिन समझदार व्यक्ति चट्टान का सहारा लेते हैं। तुम रेत के महल बनाना चाहते हो, मैं चट्टान की ओट चाहता हूँ।

किरपा—ये रेत के महल नहीं हैं, बाबा! ठोस वास्तविक तथ्य हैं। आप कई बार गये हैं शहर में। भैया के होस्टल में ठहरे हैं। क्या आपने वहां विज्ञान का चमत्कार नहीं देखा। गर्मी हो तो पंखा चला लो। सर्दी हो तो हीटर जला लो। और इनमें कोई मिहनत नहीं करनी पड़ती। केवल एक बटन दबाना पड़ता है। और बाबा! भैया ने लिखा है कि अब ऐसे-ऐसे यंत्र बन गये हैं जो आदमी की आज्ञा का पालन करते हैं। बटन दबाने की भी आवश्यकता नहीं रही। केवल कहने भर से बत्ती जल पड़ती है।

बाबा—आदमी आलसी हो गया है, बेटा! काम चोर। मेहनत से जी कतराता है। विज्ञान ने उसे आलसी बनाने में मदद दी है। यह उन्नति के नहीं, अवनति के चिह्न हैं!

किरपा—अवनति कैसे बाबा! पहले यदि हमें दस कोस भी जाना होता तो दिन लग जाता। लेकिन अब हजारों मील

आदमी घंटों में चला जाता है। ऐसे-ऐसे हवाई जहाज बने हैं, जो एक घंटे में पांच-पांच सौ मील उड़ते हैं। यह उन्नति है या अवनति ? अपने खेतों को देखो। बेचारा किसान दिनभर खून-पसीना एक करके भी दो बीघे जमीन पर हल नहीं फेर सकता। लेकिन, विज्ञान ने हमें ट्रैक्टर बना कर दिये हैं। दिन में मीलों भूमि बीज डालने योग्य हो जाती है। हल चलाकर जिस धरती में सौ मन अनाज पैदा होता था, उसी धरती से हजार मन अनाज पैदा होता है। यह उन्नति है या अवनति ? कोई भी चीज देख लीजिए। असाध्य रोग साध्य हो गये हैं। तपेदिक का इलाज था किसी के पास ? स्ट्रैप्टोमाइसीन हमें विज्ञान ने दी, जिससे तपेदिक के मरते रोगियों को नवजीवन मिला। रेडियो, टेलीवीजन, टेलीफोन, तार क्या यह अवनति के चिह्न हैं ? बाबा ! विज्ञान हमें दैनिक चिन्ताओं के बन्धन से मुक्त कर रहा है। हम प्रकृति के बन्धनों को भी तोड़ रहे हैं। पहले प्रकृति का गुलाम था। अब प्रकृति मनुष्य की दास है। हम स्वाधीनता की ओर बढ़ रहे हैं।

बाबा—(मुस्कराते हुए) स्वाधीनता की ओर ! अल्लहड़ जवानी !

[चूल्हे में आग जल पड़ती है।]

किरपा—आप मेरी बातों को मजाक समझते हैं। जितनी मिहनत भाभो ने आग जलाने में की, इतनी मिहनत से तो सैकड़ों आदमियों के लिये खाना बन सकता है।

बाबा—मिहनत का फल मीठा होता है।

किरपा—लेकिन, आदमी निरर्थक मिहनत क्यों करे ?

मौजी—तेरा तो रोज का यही झगड़ा रहता है, किरपे ! अंधेरा हो रहा है। उठ। बत्ती जला दे।

राज—तुम करो बातें भैया ! मैं जला लेती हूँ।

मांजी—हाँ, कहीं बेचारे को और मिहनत करनी पड़ जाय।

[राज लैंप जलाने कमरे में जाती है]

किरपा—मैं मिहनत से नहीं घबराता मांजी! मैं तो दलील की बात कहता हूँ। मुझे समझा दो। मैं मान जाऊँगा। अब देखो बत्ती जलानी है। पहले लालटेन उठाओ। चिमनी साफ करो। ढक्कन उतारो। तेल की बोतल उठाओ। तेल डालो। ढक्कन बन्द करो। कैंची लाओ। बत्ती काटकर साफ करो। चिमनी चढ़ाओ। माचिस लाओ। बत्ती जलाओ और लैंप बन्द करो। तब जाके कहीं मद्धम-मद्धम-सी रोशनी टिमटिमाने लगती है। लेकिन दूसरी ओर बस बटन दबाने की देर है और सारे घर में प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है।

मांजी—बात, तो ठीक कहता है किरपा, क्यों जी! उम्र घिस गई है मेरी लालटेन की चिमनी साफ करते-करते। और यह लालटेन अभी आई है, पहले तो सरसों के दीपक ही जलते थे। हवा का एक झोंका आया कि बस!

किरपा—(तनिक उत्साहित होकर) और अब मांजी बिजली के लाटू हैं कि आंधी आये, पानी आये, तूफान आये चाहे प्रलय ही आ जाय, बुझ नहीं सकते। और फिर क्या यह एक बिजली की बत्ती तक ही बात है, मांजी! न। कहते थे जानदार के सिवा और कोई बोल ही नहीं सकता। अब ग्रामोफोन के रिकार्ड बोलते हैं। न कोई औरत न आदमी और गाना सुनाई देने लगे। कितनी उन्नति की है मानव ने!

बाबा—उन्नति की इन बातों से तू अपनी माँ को ही बदला सकता है। मुझे नहीं। ग्रामोफोन के रिकार्डों में आवाज भर देने का महत्त्व क्या है?

किरपा—महत्त्व! विज्ञान ने मानव के स्वर को कुछ रेखाओं में जकड़ दिया है। पहले यह स्वर वायु में विलीन हो जाता था।

और इससे विज्ञान ने सिद्ध किया है कि एक बार कही गई बात कहीं जाती नहीं। वायु में ही रहती है। अब वैज्ञानिक पुरानी आवाजों को पकड़ने की चेष्टा कर रहे हैं। जिस दिन यह हो गया, उस दिन हम गत इतिहास इतिहास बनाने वालों के मुंह से सुनेंगे। आप कृष्ण भगवान् के मुखारविंद से गीता का उपदेश सुन सकेंगे। क्या वह दिन महान् नहीं होगा? क्या इसका कोई महत्त्व नहीं?

बाबा—जिन्हें गीता को पढ़ के कोई लाभ नहीं हुआ, वे गीता सुनकर भी क्या करेंगे? केवल अहंकार मे उनका मन और भर जायगा।

किरपा—यह कोई दलील नहीं है, बाबा! विज्ञान आपको एक उपयोगी वस्तु देता है। आप इसका लाभ उठाएं या न, विज्ञान को इससे कोई सरोकार नहीं। विज्ञान आपको इन कानों से भगवान् कृष्ण की अमृतवाणी सुना देगा।

[राज लैंप जलाकर ले आती है।]

[आंगन में हलका-हल्का प्रकाश हो जाता है।]

मांजी—बत्ती की लौ की सौगन्ध, किरपे! क्या तू सच कहता है हम इन कानों से भगवान् कृष्ण की वाणी सुन सकेंगे? क्या वह दिन मेरे जीते जी आ जायगा?

[बाबा मुस्कराते हैं और राज भी]

किरपा—दिन आये न आये, क्या अन्तर है? हमारे देश के लोग इन वस्तुओं का उपयोग करने से परहेज करते हैं। यहाँ रेलगाड़ी बनी थी, तो लोगों ने महीनों इसकी यात्रा नहीं की। समुद्र पार जाना पाप समझते हैं। बस हमारी तो यह आदत है कि जो हो गया सो ठीक। परिवर्तन हमें खलता है। (थोड़ी देर रुक कर) मैं तो उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ जब दौलत भैया विलायत से आई० सी० एस० बन के लौटेंगे और हम किसी

शहर में रहते हुए विज्ञान की देनों का पूरा उपभोग कर सकेंगे। क्यों भाभी ?

[राज कनाखियों से किरपे की ओर देखती है और होठों में आनन्द की रेखा दबा लेती है। लेकिन, बोलने में झिझकती है।......]

किरपा—और तब भाभी ! तुम्हें न यों काम करना पड़ेगा और न यों झिझकना ही पड़ेगा। हम उन्नति करेंगे। स्वाधीनता की ओर बढ़ेंगे।

[बाबा लगातार मुस्कराते हैं !]

[शहर]

[शहर की प्रमुख सड़क। सड़क के किनारे एक शानदार कोठी। कोठी के बाहर एक अति सुन्दर बगीचा ! बगीचे के किनारे पड़े हुए बैंच। पोर्च में नई 'मास्टर ब्यूक' खड़ी है।

कोठी विभिन्न प्रकार की बत्तियों से सजाई गई। कोठी की मुंडेरे के साथ-साथ बिजली की कतारें। पेड़ों में बत्तियाँ। दरवाजों पर जग-मग करते हरे पीले बल्ब। सामने से दो बड़ी-बड़ी फ्लैश लाइट पड़ रही हैं।

[कोठी का प्रत्येक कमरा साफ़-सुथरा। आधुनिकतम ढंग से सजा हुआ। बड़े गोल कमरे में किसी छोटी-मोटी दावत का आयोजन हो रहा है। बैरे और बेटर प्लेटें आदि लगा रहे हैं।

[चहल-पहल बहुत है।

[राज एक कीमती साड़ी पहने उधर-से-इधर और इधर से-उधर आ जा रही है। नौकरों को आदेश देती हुई।

[एक नवयुवक—लंबा, पतला। बारीक कटी हुई मूंछे। मुंह में सिगार। बहुत बढ़िया सिला हुआ सूट पहने। गोल कमरे में प्रवेश करता है।

[समय। तब-जब पूर्व से उदित सूर्य पश्चिम के क्षितिज में डूब चुका है।]

दौलत (नवयुवक)—सब काम ठीक हो रहा है न नंदू !

नंदू (नौकर)—जी हां। ठीक वक्त पर आपको सब कुछ तैयार मिलेगा।

दौलत—बहुत अच्छा है। कृपा बाबू आ गये कि नहीं ?

[एक दरवाजे से किरपा प्रवेश करता । हुलिया एक दम बदल गया है। बड़े भैया की तरह बढ़िया सूट पहने हुए। केवल मुंह में सिगार नहीं है।

[किरपे के पीछे-पीछे बाबा और मांजी भी हैं।]

किरपा—ले आया भैया मैं इन्हें। मां जी की तो बहुत इच्छा थी ; लेकिन बाबा मानते ही न थे। मैंने कहा, आपकी पोती का जन्म दिन है। तब जाके माने कहीं !

दौलत सिगार नंदू को थमाकर बाबा और मांजी के चरण छूने की कोशिश करता है।]

बाबा—जुगजुग जाओ बेटा !

मांजी—सुखी रहो ! बहू कहां है मेरी ?

दौलत—अन्दर ज़रा कुछ तैयारी कर रही है। आप भी चलिये। मुंह हाथ धोलें।

बाबा—मुंह हाथ धोने की तो आवश्यकता नहीं। किरपा ऐसी अच्छी मोटर पर लाया कि धूल का कहीं निशान नहीं मिला।

किरपा—और अभी भी आप विज्ञान की इन महान् देनों का उपयोग करने से झिझकते हैं। बाबा ! आप तो गांव के उस झोंपड़े में ही पड़े रहते हैं। देखिये, भैया ने इस कोठी में कितनी अद्भुत चीज़ें जुटा दी हैं !

बाबा—बहुत अच्छी बात है बेटा। भगवान करें तुम इन चीज़ों को सदा भोगते रहो। लेकिन मुझ बुड्ढे को कोई दिलचस्पी नहीं इनसे। मेरे लिये इतना ही बहुत है कि तुम दोनों

भाई मज़े में हो। जैसे चाहो, वैसे रहो।

[राज गोद में लगभग एक बरस के बच्चे को उठाये आती है। सिर से साड़ी सरक जाती है। सिर ढांपती है]

[आगे बढ़कर सास-ससुर के पांव छूती है।]

माजी—दूधों नहाओ पूतों फलो बहूरानी ! जब तू इसे गांव लाई थी तब से बहुत बदल गई है मेरी बिटिया !

बाबा—बदलने वाली जगह जो आ गई। (आशीर्वाद देते हुए) जीओ बेटी, जीओ !

किरपा—बदलने वाली जगह आके आप भी बदलें, तब तो इस जगह की करामात समझूं !

दौलत—क्यों एक ही बात के पीछे पड़ जाते हो किरपा भाई सदा कच्ची मिट्टी बदलती है; पका घड़ा नहीं बदला करता। बाबा और हमारे काल में आकाश-पाताल का अन्तर है। हमारे दृष्टिकोण का अन्तर उसी अन्तर का प्रतिबिंब है।

बाबा—ठीक कहते हो दौलत बेटा ! जिसने सदा कुंये का पानी पिया हो, लाख साफ़ होने पर भी उसे नल का पानी अच्छा नहीं लगता। परन्तु, मैं तो नल का पानी इसलिये पसंद नहीं करता कि नल के पानी के लिये हमें दूसरे का मुंह ताकना पड़ता है। कुंआँ हमारा अपना होता है। जब चाहो पानी निकाल लो।

किरपा—यह भी भला कोई बात है, बाबा ! जब पानी की आवश्यकता हो, नल खोलो और पानी हाजिर। कुंए से पानी निकालने के लिये बीस चीज़ों की अपेक्षा होती है !

बाबा—तू नहीं समझ सकता किरपे ! कच्ची मिट्टी पके घड़े की परिपक्वता को नहीं पहुंच सकती है !

किरपा—नहीं बाबा...!

दौलत—फिर कर लेना यह बहस। अभी इन्हें अन्दर

बिठाओ और दूसरा काम-काज देखो। समय कम है और मेहमान आने वाले हैं।

किरपा—आप चिंता न करें भैया! यह शहर है, गांव नहीं, जहाँ किसी को खाने पर बुलायें तो दस दिन पहले सामान जुटाना पड़ता है। मैंने शहर के बेहतरीन होटल को आज की दावत का काम सौंपा है। निचले कमरे में उनका सब सामान पहुंच चुका है। बिजली की अनेकों मशीनें हैं। सब काम अपने-आप हो रहा है। खानसामे और बैरे आ गये हैं। ठीक समय पर वे सब कुछ परोस रहे हैं। मुन्नी का यह पहला जन्म दिन है। जब मुन्नी का बीसवां जन्म-दिन मनायेंगे तो इन खानसामों और बैरों की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। अपने आप मेज सज जायेंगे और बिजली की मशीनें उन पर खाना परोस देंगी!

दौलत—बहुत दूर के स्वप्न लेते हो किरपा भाई!

किरपा—यह स्वप्न नहीं है, भैया! मैं उस दिन को अपनी आंखों के सामने देख रहा हूँ।

[बाबा मुस्कराते हैं]

किरपा—मुझे पता है, आप मेरी बातों की सदा हंसी उड़ाते हैं। परन्तु, तनिक मेरे साथ चलिये! मैं आपको विज्ञान का चमत्कार दिखाऊं!

बाबा—(हँसते हुये) रहने दो बेटा! क्या करूंगा मैं देख कर। बिन देखे ही मान लेता हूँ!

किरपा—यों नहीं होगा, बाबा! आपको कुछ-न-कुछ देखना ही होगा (साथ वाले कमरे में जाता है और थोड़ी देर में कुछ सामान लिये लौटता है। सामान में से एक वस्तु उठाकर) यह देखिये, यह है बिजली की प्रैस! प्लग लगाओ और अपने आप गर्म हो जायगी! लेकिन जलेगी कभी नहीं। यह देखते हैं, जब गर्मी

इस दर्जे तक पहुँचेगी, बिजली अपने आप बंद हो जायगी। परन्तु, जैसे ही ठण्डी होगी, बिजली स्वयंमेव इसे गर्म कर देगी ! बताइये, सोलहवीं शताब्दी की लोहे की इस्तरियां इसका मुक़ाबिला कर सकती हैं ? (एक और वस्तु उठाकर) और यह देखिये ! बटन दबाओ इसमें से गर्म हवा निकलती है, बटन घुमा दो इसी में से ठण्डी हवा निकलने लगती है। यह बाल सुखाने के लिये है। गाँव में औरतें बाल सुखाने के लिये दिन भर धूप में बैठी रहती हैं काम न काज। परन्तु, अब ? (एक वस्तु और उठाकर) यह छोटी-सी पत्ती देखते हैं। इसे पानी में डाल दीजिए, पानी गर्म हो जायगा। (बारी-बारी से चीजों की ओर संकेत करते हुए)। यह बिजली का रेज़र है। ब्लेड की आवश्यकता न साबुन-ब्रुश की। यह चाय बनाने की केतली है। यह तवा है। यह पतीली है, यह टोस्ट बनाने के लिये है। लेकिन बाबा ! इनमें किसी भी चीज़ के नीचे आग जलाने की आवश्यकता नहीं। केवल बटन दबाओ और यह काम करने लगती हैं !

माँजी—वाहवा बेटा ! हमारे समय में तो न बनी यह चीजें। चूल्हा फूँकते-फूँकते मेरे बाल सफ़ेद हो गये।

[बाबा मुस्कराते हैं।]

किरपा—यह तो बहुत मामूली चीजें हैं माँजी ! अन्दर चल कर रसोई देखिए। सब कुछ बिजली का है। अब भाभी को कभी आंखें मलनी नहीं पड़ती। धुएँ के मारे किसी का दम भी नहीं घुटता। मजे से आराम से सब चीजें तैयार हो जाती हैं। यह सब विज्ञान के कारण हुआ। अब हमें इन साधारण बातों की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं। हम इन बन्धनों से मुक्त हुये। रूढ़िवाद की दासता मिट गई। अब हम उन्नति और स्वाधीनता की ओर बढ़ रहे हैं !

बाबा—तेरी इन सब चीज़ों को काम करने के लिये शक्ति कहां से मिलती है ?

किरपा—बिजली से।

बाबा—बिजली कहाँ से आती है।

किरपा—बिजली के कारखाने से। हमारे शहर में बिजली का इतना बड़ा कारखाना लगा है कि एशिया भर में ऐसा कारखाना दूसरा नहीं।

बाबा—बिजली कारखाने से आती है। और उससे चलती हैं तेरी यह चीजें (ज़ोर से हँसता है)

किरपा—इसमें हँसने की क्या बात है, बाबा।

[बाबा फिर हँसते हैं। किरपा आश्चर्य चकित-सा कभी बाबा की ओर देखता है, और कभी भैया की ओर।]

[हार्न की आवाज़ आती है।]

दौलत—लो, मेहमान आ गये।

[उठकर जाते हैं और थोड़ी देर में एक स्त्री और एक पुरुष के साथ लौटते हैं। सब एक दूसरे को नमस्ते करते हैं......]

किरपा—ओह, मिस्टर चौपड़ा! आइये, आइये! क्या हाल है आपका ?

[राज नवागन्तुका स्त्री की ओर बढ़ती है और उसे एक सोफे पर बिठाती है।]

नवागन्तुक—क्यों कैसी बीत रही है किरपा बाबू ? विज्ञान ने कितनी उन्नति की है।

दौलत—यही तो बहस चल रही थी अभी। बाबा से उलझ रहा था। यह सामने सब चीजें बिखरी नहीं देखते हैं आप!

राज—किरपा का कहना है कि विज्ञान की इन देनों से हम स्वाधीनता की ओर बढ़े हैं; लेकिन बाबा नहीं मानते।

किरपा—(जोश से) इन्हें एक दिन मानना ही होगा। सूर्य के

प्रकाश से अधिक देर तक इन्कार नहीं किया जा सकता।

बाबा—ठीक कहते हो बेटा। हाथ कंगन को आरसी क्या ?

[मोटर का हार्न फिर बजता है। दौलत फिर बाहर जाते हैं और कुछ और अतिथियों के साथ लौटते है। इस तरह हौले-हौले लगभग तीस-पैंतीस व्यक्ति जुट जाते हैं। सब आपस में बातें करते हैं। कहीं धीरे-धीरे, कहीं ऊंचे-ऊंचे।

दौलत—(घड़ी की ओर देखते हुए) अब काफी समय हो गया है। यदि आपकी इजाजत हो तो आरम्भ किया जाय!

(सब ओर से हां-हां की ध्वनि आती है)

तो कृपा भाई! आर्डर करो।

[किरपा बाहर जाता है। तभी एक-दम अंधेरा छा जाता है।]

आवाजें—यह क्या हुआ ? यह क्या हुआ ?

दौलत—किरपा भाई! क्या हुआ बिजली को ?

किरपा—फ्यूज उड़ गया है शायद। मैं देखता हूँ।

आवाजें—ओह! गर्मी। पंखे बंद हो गये हैं।

दौलत—किरपा भाई! जल्दी फ्यूज लगाओ। यहां गर्मी से दम घुटने लगा है।

[अंधेरे में लोगों के इधर उधर हिलने की आवाजें आती हैं......]

दौलत—सब अपनी अपनी जगह बैठे रहिये। कहीं टक्करें ही न हो जायें।

किरपा—(टार्च की रोशनी में आता है। भैया! हमारा फ्यूज नहीं उड़ा। सारे शहर की बिजली बन्द हो गई है। मैंने बिजली-घर टेलीफ़ोन किया है। वे कहते हैं; दो चीलें लड़ते-लड़ते बड़ी तारों पर गिर पड़ी थीं। उससे शहर का बड़ा फ्यूज उड़ गया है। वे फ्यूज लगा रहे हैं।

बाबा—किरपा बेटा!

[किरपा टार्च की रोशनी बाबा के मुँह पर फेंकता है। बाबा मुस्करा रहे हैं।]

किरपा—(अपनी पराजय समझकर) यह कोई बात नहीं है बाबा! अभी फ्यूज लग जायगा। अभी बिजली आयगी।

राज—बड़ी गर्मी हो रही है भैया! जरा फिर टेलीफोन तो करो। कितनी देर है अभी?

दौलत—ठहरो, मैं जाता हूं। (थोड़ी देर में पलट कर आते हैं) ओह! बहुत बुरी बात हुई है। चीलों के तार पर गिरने से केवल फ्यूज ही नहीं उड़ा, अपितु कई तारें जल गई हैं। इनका असर बिजली की मशीनों पर भी हुआ है। चीफ इंजिनियर कहता है कि कम-से-कम तीन घण्टे लगेंगे।

आवाजें—तब तक? तब तक?

और आवाजें—इतनी गर्मी में तो हमारा दम घुट जायगा।

बाबा—किरपा बेटा!

किरपा—(झुंझलाकर) क्या है बाबा!

बाबा—(हंसते हुये)वह अपनी मशीन चलाओ न जिससे कभी ठण्डी हवा निकलती है और कभी गरम। (जोर से हंसते हैं।)

दौलत—किरपा भाई! किसी गैस वाले को टेलीफोन करो कि गैस दे जाय।

[किरपा जाकर थोड़ी देर में पलटता है]

किरपा—भैया! बिजली बन्द होने से सब दुकानें बन्द हो गई हैं। कहीं टेलीफोन कोई उठाता ही नहीं।

दौलत—तब? तब?

आवाजें—तो हम चलें मिस्टर दौलतराम!

दूसरी आवाज—चलें भी कैसे? सब ओर अंधेरा ही अंधेरा है।

बाबा—ठहरिये ! मैं रोशनी का प्रबन्ध करता हूँ। (किरपा टार्च से रोशनी करता है। बाबा जाकर थोड़ी देर में लौटते हैं। उनके हाथ में एक कटोरी में बना दीपक है।) यह लो बेटा ! अब महमानों को कुछ खिलाओ पिलाओ।

किरपा—यह दीपक बाबा।

बाबा—हाँ बेटा। जिस शहर में एशिया का सबसे बड़ा कारखाना फेल हो जाय, वहाँ हम तैल का दीपक ही प्रकाश कर सकता है।

दौलत—ठीक है किरपा भाई ! ऐसे कुछ दीपक और बनालो और बैरों को खाना परोसने के लिये कहो। (किरपा भैया के मुंह की ओर देखता है) क्यों क्या बात है ?

किरपा—लेकिन भैया ! बिजली बन्द हो गई है। बिजली के बिना खाना तैयार कैसे होगा ?

दौलत—क्यों ?

किरपा—अभी तो केवल सूप तैयार है। बाकी कोर्स तो साथ-साथ तैयार होने थे।

दौलत—ओह ! कम्बख्त बिजली को आज ही फेल होना था। (अतिथियों से) मैं बहुत लज्जित हूँ भाइयो !

अतिथि—इसमें आपका क्या दोष है मिस्टर दौलत ? लोहे के कल-पुर्जों पर किसी का क्या बस ? फिर कभी सही।

दूसरा अतिथि—हाँ फिर सही। बेबी कहां है ? हम उसे आशीर्वाद तो देते जायें।

(राज बेबी को आगे करती है लोग उसे प्यार करके चले जाते हैं। कमरे में केवल बाबा, माँजी, दौलत, किरपा और राज रह जाते हैं।......)

बाबा—बिजली का चूल्हा, तवा, केतली और पतीली कहां हैं बेटा ! हमारी उन्नति के वे चिह्न कहां हैं ? देखा, हम स्वा-

धीनता की ओर कितना बढ़े हैं ? विज्ञान ने कितनी उन्नति की है ? दो क्षुद्र चीलों ने एशिया का सबसे बड़ा कारखाना निकम्मा कर दिया। (हंसते हैं)

किरपा—यह तो एक्सीडैंट है बाबा !

बाबा—हां एक्सीडैंट ! लेकिन, बताओ हम स्वाधीनता की ओर बढ़ रहे हैं या पराधीनता की ओर ?

श्री देवदत्त 'अटल'

श्री देवदत्त 'अटल' पंजाब के राजनीतिक कार्यकर्त्ता हैं। आप ने जेल-जीवन में ही साहित्य-साधना का श्री गणेश किया और निरन्तर कहानियां और एकांकी-नाटक लिख रहे हैं। आपकी रचनाओं में राजनीतिक विषम को प्रधानता रहती है। हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावनाओं द्वारा आपने सम्प्रदायवादी प्रतिक्रियावादी विचारों का सदा विरोध किया है। इन्होंने अपने नारी पात्रों को अबला नहीं सबला के रूप में देखा है। इनके विचार में कला जीवन की अभिव्यक्ति का साधन है केवल मनोरंजन की सामग्री नहीं।

श्री 'अटल' जी पंजाब में हिन्दी प्रचार की संस्था में भी सक्रिय भाग लेते रहे हैं।

इनकी रचनाओं में शब्दों का प्रयोग कृपणता से होता है पर भावों में गहराई पाई जाती है।

'युग का ईसा' राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी के जीवन की एक झांकी है। प्राकृतिक-चिकित्सा द्वारा उन्होंने जो पीड़ित जनता की सेवा की है यह गांधीजी के जीवन में स्थान-स्थान पर मिलती है। कोढ़ी—हरिजन कोढ़ी की चिकित्सा महात्माजी ने अपने हाथों से की थी। यह एक सच्ची घटना है। कोढ़-गलित लोगों को उन्होंने महात्मा ईसा की भांति मानव समाज का अंग समझा और उनकी सहानुभूति से सेवा की।

एकांकी भावपूर्ण हैं। —सुरेश शर्मा

पात्र:

महात्मा गाँधी

बालिका

पति (कोढ़ी)

पत्नी (कोढ़ी)

हरिजन (कोढ़ी)

व्यापारी आदि ।

युग का ईसा

(जंगली झाड़ियों के उजाड़ प्रदेश में अज्ञात काल से सूखी हुई नदी के टूटे-फूटे जर्जरित पुल के नीचे शीत से ठिठुरे हुए कुछ व्यक्ति सिमटे-से बैठे हैं। उनके रङ्ग काले, बाल जटाओं की भाँति उलझे हुए मटियाले हैं। उन्होंने अपना शरीर गन्दी, मैली गुदड़ियों से छिपा रखा है। हाथों, पैरों—शरीर के अंग-प्रत्यंग—से बहने वाली दुर्गन्ध-पूर्ण पीव को वे लापरवाही से गुदड़ी के छोर से पोंछ देते हैं।

यह सब कोढ़ी हैं। निरन्तर दाहक-पीड़ा से कभी-कभी उनके गलित होठों से चीत्कार निकल पड़ती है, जो उस सुनसान प्रान्त में झाड़ियों से टकराकर उन्हीं के आस-पास चक्कर काटने लगती है।

एक कोढ़ी-परिवार में नन्हा-सा बालक मां की गोद में खेल रहा है। मातृ-स्नेह से आकुल मां की आंखों में आंसू हैं। होंठ बच्चे का चुम्बन लेने के लिये उतावले होकर झुकते हैं, किन्तु मां आशंकित होकर बच्चे का चुम्बन लेने में हिचकिचा उठती है।)

पत्नी—मेरी अन्तर्पीड़ा इस कोढ़-गलित शारीरिक पीड़ा से कहीं दाहक है स्वामी।

पति—ठीक कहती हो देवी! मेरी आत्मा भी ऐसा ही अनुभव करती है, किन्तु···

पत्नी—किन्तु, ओह! यह, 'किन्तु' हमारे जीवन की न बूझी जाने वाली पहेली बन गया।

पति—(नाक पर भिनभिनाने वाली मक्खियों को हटाते हुये) यह मक्खियाँ नहीं, मृत्यु-दूतिका हैं।

पत्नी—(शीतल आह खींचकर) हटो! हटो! दुष्ट मक्खियो, इस चाँद के टुकड़े को कलंकित मत करो। (हाथों से मक्खियों को

हटाती हुई) सुना है, किसी युग में महात्मा ईसा नाम के महापुरुष थे, जो मन्त्र-बल से कोढ़ियों का उपचार करते थे। इस कलियुग में...

पति—कलियुग, कलियुग है। इस युग में ऐसा महात्मा कहाँ ?

पत्नी—युग युग का महात्मा होता है, नहीं तो जगत्-व्यवहार ही असम्भव हो जाए। होगा तो जरूर; पर...

(निकट बैठा हुआ कोढ़ी बोल उठता है।)

कोढ़ी—महात्मा तो इस युग में भी है।

(पति-पत्नी एक साथ बोल उठते हैं।)

"कौन ? कौन ? वे पुण्यआत्मा कहाँ रहते हैं ? हम अपनी सन्तान—अपने भावी आशा के एकमात्र आधार—के लिये आकाश में, पाताल में, जहाँ भी वे होंगे जाएंगे।"

कोढ़ी—वे हैं महात्मा गाँधी !

सब कोढ़ी—गांधी ! चलो हम सब महात्मा गांधी के चरणों में शरण लें।

(कोढ़ी-दल अपनी-अपनी गुदड़ी कन्धों पर डाल कर चल देता है। टूटी-फूटी अकेली पुलिया भीषण निस्तब्धता में डूब जाती है।)

(पर्दा बदलता है।)

(फूँस की झोंपड़ी में प्राकृतिक-चिकित्सालय। एक रोगी मर्मान्तक पीड़ा से चीख रहा है। वह जाति का हरिजन है। उसका शरीर गलित कोढ़ के क्षत-विक्षत घावों से पूरित है। नाक गल कर धँस चुकी है। हाथों की उँगलियां सूजी हुई और झड़ती जा रही हैं। उनसे लाल-लाल रुधिर-सा चू रहा है।

गले हुये घावों से भीषण सड़ी हुई दुर्गन्ध आ रही है। रात के दस बजे हैं। सरसों के तेल का दीपक जल रहा है।

कोढ़ी के पास महात्मा गांधी विराजमान हैं। वे अपने हाथों से